

गोपालचन्द्र चक्रवर्ती द्वारा
भारतधर्म प्रेस, काशीमें मुद्रित।



ढक जाता है) यथा (जिस प्रकार) गर्भः (गर्भ) उल्वेन (जरायु अर्थात् गर्भचर्मसे) आवृतः (ढका रहता है) तथा (उसी प्रकार) तेन (कामके द्वारा) इदं (ज्ञान) आवृतम् (ढका हुआ है)। हे कौन्तेय ! (हे अर्जुन !) ज्ञानिनः (ज्ञानीके) नित्यवैरिणा एतेन कामरूपेण दुष्पूरेण अनलेन च (नित्यशत्रु इस कामरूपी सदा अतृप्त अग्निके द्वारा) ज्ञानं आवृतम् (ज्ञान ढका हुआ है)। इन्द्रियाणि (इन्द्रिय समूह) मनः बुद्धिः (मन और बुद्धि) अस्य (कामका) अधिष्ठानं उच्यते (यह आश्रयस्थान कहलाता है), एषः (काम) एतैः (इन्द्रियादिके द्वारा) ज्ञानं आवृत्य (ज्ञानको ढक कर) देहिनं विमोहयति (जीवको मुग्ध कर देता है)।

सरलार्थ—रजोगुणसे उत्पन्न असीम खानेवाला महापापी यह काम है जिसकी अतृप्तिमें क्रोधका भी उदय होता है। आत्माके पथमें इसी कामको शत्रु जानना चाहिये। जिस प्रकार धुएंसे अग्नि ढक जाती है, धूलसे सीसा ढक जाता है और झिल्लीसे गर्भ ढक जाता है ठीक ऐसा ही कामसे ज्ञान ढका हुआ है। हे अर्जुन ! यह काम ज्ञानीका नित्य शत्रु है, अतिकठिनतासे तृप्त होने वाला अग्निरूप है, इसीने ज्ञानको आवृत कर रक्खा है। इसके रहनेके स्थान इन्द्रियां, मन तथा बुद्धि कहे जाते हैं, यह इन्हींसे ज्ञानको ढक कर जीवको मुग्ध कर देता है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें कामकी भीषणता तथा ज्ञानके साथ

प्रस्तावना ।

—:❀:—

श्रीभगवान् वासुदेवकी अपार कृपासे गीतार्थचन्द्रिकाका यह द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थके प्रकाशित करनेसे पूर्व दो प्रधान चिन्तायें मेरे हृदयमें उत्पन्न हुई थीं। एक श्रीमद्भगवद्गीता पर संस्कृत तथा हिन्दी भाषामें अनेक भाष्य और टीका प्रचलित रहनेपर भी किसीके साथ किसीका मेल नहीं है और सभी लेखक अपने ही सिद्धान्तकी ओर गीताको खींचते हैं। इस प्रकार खींचातानीसे बुद्धिभेद होनेकी विशेष सम्भावना है और दूसरी ओर देशकाल पात्रानुसार एकाधिक सिद्धान्तोंके प्रकट होनेकी आवश्यकता भी रहती है। इसलिये प्रयोजन यह हुआ कि गीतापर ऐसी एक 'चन्द्रिका' बने जिसमें देशकाल पात्रानुसार भिन्न भिन्न सिद्धान्तोंकी उपयोगिता दिखा दी जाय और सर्वमत-सामञ्जस्यमय गीताका जो यथार्थ स्वरूप उसका भी यथेष्ट दिग्दर्शन हो सके। यही भावना गी चन्द्रिकाके लिखनेमें मेरे लिये प्रथम कारण बनी। इस द्वितीय कारणका अनुभव श्रीसनातनधर्म महा छात्रोंको गीता पढ़ाते समय तथा सनातनध गीता कहते समय मुझे हुआ था। उसमें मैंने

छात्रोंके हृदयमें गीता समझनेकी सरल सात्त्विक इच्छा रहने पर भी केवल बाल्यकालसे संस्कृत भाषाका ज्ञान न होनेके कारण वे गीताज्ञानसे वञ्चित रह जाते हैं और उनका मनोरथ दरिद्रोंके मनोरथकी तरह हृदयमें उत्थित होकर हृदयमें ही विलीन हो जाता है। और केवल छात्रोंके लिये ही क्यों कहें, अनेक सद्गृहस्थ जिज्ञासु भी इसी कारण पद्मनाभकी मुखपद्म निःसृत अमृतवाणीसे वञ्चित रह जाते हैं। गीताके ऊपर छोटी मोटी हिन्दी टीकाएं प्रचलित रहनेपर भी गीताके गम्भीर रहस्योंका परिज्ञान उनके द्वारा भलीभांति प्राप्त करना भी बहुधा असम्भव ही जान पड़ता है। इन्हीं दो कारणोंसे प्रेरित होकर श्रीगुरुदेव तथा श्रीभगवान्‌को स्मरण करके मैंने गीतार्थचन्द्रिका लिखनेका साहस किया है। इसमें प्रथमतः अन्वयरूपमें श्लोकान्तर्गत प्रत्येक शब्दका हिन्दी भाषामें अर्थ दिया गया है, तदनन्तर हिन्दी भाषामें समस्त श्लोकका एक सरलार्थ भी लिखा गया है और तत्पश्चात् गीताके गम्भीर रहस्य प्रकट करनेके लिये 'चन्द्रिका' लिखी गई है। 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये' इस सत्य सिद्धान्तके अनुसार श्रीभगवान् वासुदेवके राजीव चरणोंमें यह सभक्ति उपहार समर्पण करके मैं निश्चिन्त होता हूं।

समस्त ग्रन्थको एक ही पुस्तकाकारमें प्रथमतः मुझे प्रकाशित करनेकी इच्छा थी। किन्तु प्रथम संस्करणके लिखते लिखते अनुभव हुआ था कि समस्त गीता रहस्यके प्रकट करनेमें ग्रन्थका कलेवर बहुत ही बढ़ जायगा जिसको एक ही

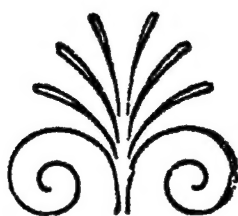
पुस्तकरूपमें निकालने तथा पढ़नेमें पाठकोंको ऐसी सुविधा नहीं होगी। इस कारण प्रथम संस्करणको दो खण्डमें प्रकाशित करके अब प्रेसकी सुविधानुसार एक ही पुस्तकाकारमें समस्त गीता निकाली जाती है। इसमें प्रथम छः अध्यायोंमें कर्मयोगपर विशेष विवेचन, सप्तम अध्यायसे द्वादश अध्याय पर्यन्त उपासनायोगपर विशेष विवेचन तथा त्रयोदशसे सप्तदश अध्याय पर्यन्त ज्ञानयोग पर विशेष विवेचन करके अन्तिम अध्यायमें प्रसङ्गानुसार तीनों योगोंका समन्वय और सामञ्जस्य विधान किया गया है। भाषाकी सरलता, भावकी मधुरता और चन्द्रिकाकी अपूर्वताके अक्षुण्ण रखनेका यथाशक्ति प्रयत्न किया गया है।

कुटिल कलिकालकी करालगतिसे अधर्मका अत्याचार सर्वत्र ही प्रबलरूपको धारण कर रहा है। त्रिपादपङ्गु सनातनधर्मके प्रति लोगोंकी श्रद्धाभक्ति दिन पर दिन घटती जाती है। राहुग्रस्त दिवाकरकी तरह मनुष्योंका अन्तरात्मा आजकल प्रायः अज्ञानान्धकारसे ही आच्छन्न देखा जाता है। सत्यकी स्फूर्ति नहीं, चित्तकी पवित्रता नहीं, ज्ञानका प्रकाश नहीं, सर्वत्र ही दीनता, मलिनता तथा अधार्मिकताका प्रबल पराक्रम प्रचारित हो रहा है। इस प्रबल सङ्कटकालमें आर्य सद्ग्रन्थोंके संकलन तथा बहु प्रचार द्वारा पापके इस प्रबल वेगको रोकना सर्वथा आवश्यक जान पड़ता है। इस कारण गीतार्थचन्द्रिकाका यह द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया गया। श्रीभगवान् नंदनंदनकी करुणाभरी कोमल दृष्टि दीन-

ताग्रस्त हिंदुजाति पर सदैव बनी रहे यही उनके राजीवचरणोंमें बार बार विनीत प्रार्थना है।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलका अधिकांश शास्त्रीय कार्य आजकल भारतधर्मसिण्डिकेट द्वारा कराया जाता है। तदनुसार गीतार्थचन्द्रिकाका यह भी संस्करण उसी कम्पनीने छाप कर प्रकाशित किया।

ग्रन्थकार।



ॐ

गीतार्थचन्द्रिका ।

—०❀०—

भूमिका ।

श्रीमद्भगवद्गीतापर भाष्योंका भी अन्त नहीं है, और टीका टिप्पनियोंका भी अन्त नहीं है। श्रीभगवान् शंकराचार्य-की गीताभाष्यरचनाके अनन्तर वैष्णव सम्प्रदायके अनेक आचार्योंने भी भगद्गीतापर स्वतन्त्र स्वतन्त्र भाष्य रचना की है। तदनन्तर आधुनिक अनेक विद्वान् तथा महात्माओंने भी टीका, टिप्पनी, सन्दीपनी, प्रबोधिनी आदि नामसे गीता पर बहुत कुछ लिखा है। इसके सिवाय पश्चिम देशके अनेक विद्वानोंके भी इसके ऊपर विभिन्न मतविन्यास देखनेमें आते हैं। किन्तु आश्चर्यकी बात यह है कि इतने भाष्य तथा टीका टिप्पनियोंमें किसीके साथ किसीका मतैक्य देखनेमें नहीं आता है। सभी अपने पृथक् पृथक् सिद्धान्त गीताके विष-यमें प्रकट करते हैं। कोई कोई लेखक तो समग्र गीताकी घटना-को ऐतिहासिक तथ्य न बताकर केवल आध्यात्मिक दृष्टि तथा यौगिक दृष्टिसे ही इसपर विवेचन करते हैं। उनके मतानु-सार कौरवपाण्डवादिका संग्राम तथा गीतोपदेश कोई स्थूल व्यापार नहीं है किन्तु योगशास्त्रोक्त प्रकृतिपुरुषविवेचन,

प्रकृतिका लय, योगानुसार पुरुषमें विलय और सूक्ष्म राज्य-में देवासुर संग्रामका व्यापार है। श्रीभगवान् शंकराचार्यने प्रखर पाण्डित्यके साथ शास्त्रार्थ द्वारा यही निर्णय किया है कि ज्ञान कर्मका समुच्चयवाद गीताका तात्पर्य नहीं है किन्तु ईश्वरार्पण बुद्धिके साथ नित्यनैमित्तिक कर्म करते करते जब चित्तशुद्धि हो जाती है तब कर्म छोड़कर आत्मरति हो जाना और अन्तमें ज्ञानद्वारा निःश्रेयस लाभ कर लेना यही गीताका प्रतिपाद्य विषय है। उनके इस प्रकार शास्त्रार्थके द्वारा यह अनायास ही समझमें आजाता है कि उनके पूर्व कालमें ज्ञान कर्म समुच्चय प्रतिपादक भाष्यादि ग्रन्थ गीतापर प्रचलित थे जिनका मिथ्यात्व प्रदर्शन उन्होंने अपने भाष्यमें किया है। भगवान् भाष्यकारका पदाङ्क अनुसरण करके श्रीमत् आनन्दगिरि, श्रीस्वामी मधुसूदन सरस्वती आदि जितने विद्वान् पुरुषोंने गीतापर पुस्तकें लिखी हैं वे सब शाङ्कर भाष्यके ही विस्तृत तथा सुगम व्याख्यामात्र हैं। इनमेंसे श्रीस्वामी मधुसूदन सरस्वतीकृत टीका ग्रन्थ बहुत ही उपादेय तथा उप-योगी है। भाष्यकारके बाद कई एक वैष्णवाचार्योंने भी गीता पर अलग अलग भाष्य लिखे हैं। उनमेंसे विशिष्टाद्वैतमतके श्रीरामानुजाचार्य, शुद्धाद्वैतमतके श्रीवल्लभाचार्य तथा द्वैताद्वैत मतके श्रीनिम्बार्काचार्यके भाष्य मुख्य हैं। इन सभी आचा-र्योंने अपने अपने मतके लक्ष्यको प्रधान रखते हुए भक्तिभाव-मूलक भाष्य भगवद्गीताके ऊपर लिखे हैं। इनके इस प्रकार मतवादमें प्रधान युक्ति यह है कि समस्त गीता कह डालनेके

अनन्तर जब श्रीभगवान्‌ने 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' सब धर्मोंको छोड़कर मेरी ही शरण लो, यह कहकर अपनी ही ओर भक्तको आकर्षण किया है तो उपास्य-उपासक भावप्रधान भक्तिमार्गका ही उपदेश करना उनका लक्ष्य था, यह गीताका तात्पर्य प्रकट होता है। भक्तिपक्ष प्रतिपादक इन भाष्योंके अवलम्बनसे भी अनेक प्रकारकी टीका टिप्पनियां गीताके ऊपर प्रकाशित हुई हैं जिनमेंसे श्रीधर स्वामी कृत टीका सर्वोत्कृष्ट है। अब वर्त्तमान कालमें स्वर्गीय लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक महोदयने भी 'भगवद्-गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र' नामक एक अति विस्तृत टीका भगवद्गीता पर लिखी है। इसमें उन्होंने ज्ञान प्रति-पादक तथा भक्ति प्रतिपादक प्राचीन मतोंका निराकरण करके गीताको कर्मयोग शास्त्र बताया है और 'कर्मयोग' ही इसका अन्तिम प्रतिपाद्य विषय है, ज्ञान तथा भक्ति केवल कर्म-योगका सहायकमात्र है यही विचार किया है। इस प्रकार मत-वाद प्रकट करनेमें तिलक महोदयकी प्रधान युक्ति यह है कि जब युद्धके मौकेपर अर्जुनको युद्धकार्यमें प्रवृत्त करनेके लिये गीताका उपदेश किया गया था, संसार छुड़ाकर बनवासी बनाकर मोक्षप्रदानके लिये नहीं किया गया था तो गीतोप-देशका अंतिम लक्ष्य ज्ञानयोग या भक्तियोग नहीं हो सकता है, प्रत्युत कर्मयोग ही होगा। इसमें ज्ञानपक्ष या भक्तिपक्षका प्रतिपादन केवल साम्प्रदायिक आचार्योंने अपने अपने सम्प्र-दायोंकी पुष्टिके लिये ही किया है। इस प्रकारसे श्रीमद्भग-

वद्गीतापर प्रचुर भाष्य तथा टीका टिप्पनियां देखनेमें आती हैं। अब नीचे देशकालपात्रानुसार इन सबकी उपयोगिता प्रदर्शन पूर्वक यथायथ सामञ्जस्य विधान किया जाता है।

जिस वस्तुका कोई निर्दिष्ट आकार नहीं होता है उसे मनुष्य अपने भावानुसार नाना आकारमें देख सकता है। श्रीभगवान् निराकार हैं इसी कारण कभी शिव रूपमें, कभी विष्णु रूपमें या कभी अन्य रूपोंमें भक्तोंके भावानुसार दर्शन दे सकते हैं। उनकी यदि कोई निर्दिष्ट एक ही साकार मूर्ति होती तो ऐसा न हो सकता। इसी प्रकार जलका भी कोई निर्दिष्ट आकार नहीं है, इस कारण चतुष्कोण पात्रमें जल चतुष्कोण ही दीखता है, गोलाकार पात्रमें जल गोलाकार ही दीखता है और त्रिकोण पात्रमें जल त्रिकोणाकार ही दीखता है, इत्यादि। श्रीमद्भगवद्गीताके विषयमें भी ऐसा ही समझना चाहिये। भगवद्गीता निराकार है अर्थात् इसका कोई साम्प्रदायिक आकार नहीं है। इस कारण सप्तशतश्लोकमयी एक ही गीताको ज्ञानपन्थी गम्भीर ज्ञानमयी मूर्तिमें देखते हैं, भक्तिपन्थी मधुर मनोहारिणी भक्तिभावमयी मूर्तिमें देखते हैं, कर्मपंथी रणताण्डवरत कर्मयोगमयी मूर्तिमें देखते हैं और अध्यात्मपंथीके लिये सकलकलाका परिहार करके श्रीमती गीता अपनी सनातनी नीरूप रूपमें ही विराजमान हो जाती है। श्रीभगवान् पूर्ण हैं, इसलिये उनकी मुखपद्मनिःसृता गीता भी पूर्ण है। और पूर्ण होनेके कारण ही एक-रूप गीताके इस प्रकार भक्तमनोविनोदन

अनन्तरूप बन जाते हैं। यही गीताके अनेकार्थ होनेका तथ्य है। अब देशकालपात्रानुसार इस तथ्यपर विवेचन किया जाता है।

श्रीभगवान् शङ्कराचार्य्यके आविर्भावसे पहिले ज्ञान कर्मका समुच्चय मनुष्यजीवनमे तथा शास्त्रीय ग्रन्थोंमें अवश्य ही था, नहीं तो कालानुसार इसके खण्डनमें भाष्यकारको क्यों प्रवृत्त होना पड़ता। यद्यपि सकाम-कर्मके साथ ज्ञानका समुच्चय नहीं हो सकता है क्योंकि सकाम कर्मके स्वर्गादि नश्वर फलप्रद होनेके कारण आत्यन्तिक सुख तथा अपवर्ग फलप्रद ज्ञानके साथ इसका कदापि सामञ्जस्य नहीं हो सकता है, किन्तु साक्षात् रूपसे अपवर्गके सहायक निष्काम कर्मके साथ ज्ञानका सदा ही समुच्चय शास्त्र तथा अनुभवसिद्ध सत्य है। श्रीभगवान्ने स्वयं ही श्रीमुखसे गीतामें कहा है—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

क्षीणपाप, द्विधाभावहीन, संयतात्मा ऋषिगण जगत् कल्याणकारी निष्काम कर्मयोगमें रत रहकर ब्रह्मनिर्वाणको लाभ करते हैं। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इस श्रुतिवचनके अनुसार ज्ञान बिना मुक्ति तो होती ही नहीं, इसके साथ साथ मोक्ष लाभके लिये कर्मयोगकी भी आवश्यकता बता कर श्रीभगवान्ने निज मुखसे ही ज्ञान कर्मका समुच्चयवाद सिद्ध कर दिया है। अतः इस विषयमें अन्यथा चिन्ता करने-

का अवसर नहीं है। मनुष्यजीवन तथा शास्त्रीय विवेचनों-में ज्ञान कर्मका इस प्रकार समन्वय बौद्धयुगके कुछ समय पहिले तक चलता रहा। पश्चात् कलिकालके कुप्रभावसे मनुष्य जब निष्काम कर्मयोगको छोड़ कर घोर सकामकर्मी बन गये और यहां तक कि वैदिक यज्ञादि कर्मोंका भी दुरुप-योग होने लगा एवं वेद, यज्ञ तथा ईश्वरके नामसे लक्ष लक्ष पशुबलि और नरबलि तक होने लगी तो श्रीभगवान्‌को बुद्धा-वतार रूपमें प्रकट होकर तात्कालिक हिंसाजन्य पापनिवृत्ति-के लिये यज्ञादि कर्मोंका खण्डन करना पड़ा। इस प्रकारसे बौद्ध युगमें ज्ञान कर्मका समुच्चयवाद स्वतः ही नष्ट भ्रष्ट होगया और नीरे निर्वाणप्रद शुष्कज्ञानका प्रचार होने लग पड़ा। किन्तु यह भाव भी बहुत दिनों तक नहीं चल सका। क्योंकि जब तक ईश्वरार्पण बुद्धिसे नित्यनैमित्तिक कर्मोंके अनुष्ठान द्वारा चित्तशुद्धि न हो तब तक ज्ञानका उदय तथा अधिकार कदापि नहीं हो सकता है। इस कारण यद्यपि श्रीभगवान् बुद्धदेवने दयाभावमें भावित होकर स्वमतावलम्बी अनेक नर नारियोंको संन्यासका अधिकार दे दिया था तथापि कर्म-हीन ज्ञान और संन्यासको साधना बहुत दिनों तक नहीं चली। अन्तमें ये ही स्त्री पुरुष निवृत्तिमार्गभ्रष्ट होकर घोर विषयी बन गये और मायासे परे पवित्र निर्वाणपदको पाना तो दूर रहा, वे सब अति दुःखमय संसारचक्रमें फंस गये। इसी मौके पर श्रीभगवान् शंकराचार्य्यका आविर्भाव हुआ। उन्होंने देखा कि ज्ञानहीन सकाम कर्ममें आसक्त होकर जीव

बहुत ही विषयी बनते जा रहे हैं और सकाम कर्म द्वारा संसारजालसे मुक्त होनेका कोई भी उपाय नहीं है, तथा ऐसे घोर विषयी जीवोंका निष्काम कर्मयोगमें भी अधिकार हो नहीं सकता, तो उन्होंने भी सामयिक कल्याणके लिये कर्म मात्रका खण्डन करते हुए ज्ञान कर्मके समुच्चयवाद पर ही प्रचण्ड प्रहार किया और विषयी जीवके चित्तको विषयसे पृथक् करनेके लिये समस्त चराचरको मिथ्या मृगमरीचिका तथा स्वप्नवत् बता कर अद्वैत भावकी ओर प्रजा-की चित्त नदीको प्रवाहित कर दिया। इस प्रकारसे काला-नुसार जीवकल्याणके लिये बुद्धभगवान् तथा भाष्यकार भगवान्के द्वारा ज्ञान कर्मका समुच्चयवाद निराकृत हुआ है, और भगवान् भाष्यकारके द्वारा गीता पर ऐसा ही भाष्य लिखा गया है। अद्वैत ज्ञानके प्रचार द्वारा संसारमें कुछ दिनों तक शान्ति अवश्य ही विराजमान रही। किन्तु मन्द-मति कलियुगी जीवोंका इस प्रकार अलौकिक अद्वैत ज्ञानमें अधिकार कहां ? फल यह हुआ कि कुछ समयके बाद ही ब्रह्म ब्रह्म करते करते लोग ईश्वरको ही भूल गये और उपा-सना भक्ति आदिकी मधुरता जाती रही। इस मौके पर धर्मरक्षाके लिये अनेक वैष्णवाचार्य्य प्रगट हुए। उन्हों-ने द्वैतवाद तथा भक्तिपक्षकी मुख्यताको लेकर प्रस्थानत्रय-की व्याख्या की और गीताक्षेत्रमें भक्तिकी मन्दाकिनी बहा दी। तबसे अबतक यही बात चली आ रही थी। अधिकारीभेदसे ज्ञानप्रधान तथा भक्तिप्रधान दोनों

प्रकारके भाष्य ही माने जाते थे। किन्तु चित्ताकाशके निर्मल हुए विना न भक्तिसुधाकर ही रमणीय मालूम पड़ते हैं और न ज्ञानदिवाकरकी ही किरणछटा दिगदिगन्तको आलोकित कर सकती है। ईश्वरार्पण बुद्धिसे, निष्कामभावसे कर्मयोगमें निविष्ट रहते रहते तभी हृदयकुमुद भक्तिसुधाकरसे और हृदयकमल ज्ञानदिवाकरसे प्रफुल्लित हो सकता है। कलियुग तमः प्रधान है, आलस्य, प्रमाद, जडता इसके प्रधान लक्षण हैं। इन्हीं दोषोंसे ग्रस्त होकर ही आर्य्यजातिने स्वाधीनता रत्नको खो डाला है और आत्यन्तिक स्वाराज्यसिद्धि भी स्वप्न सी हो गई है। विना कर्मयोगके सत्त्वोन्मुखी रजोगुणके यह तमोगुण कट नहीं सकता है। अतः वर्तमान देशकालके विचारसे जगत्कल्याणके लिये निराकार गीता भगवान्को कर्मयोगमय साकाररूपमें प्रगट कर देना इस समय बहुत ही आवश्यक था और इसका गुरुतर अभाव भी जगज्जनोंको प्रतीत होने लग गया था। इसी अभावको अनुभव करके स्वर्गीय लोकमान्य तिलक महोदयने कर्मपक्षको ध्यानमें रख कर गीतापर जो विवेचन किया है सो वर्तमान देशकालपात्रके विचारसे अवश्य ही प्रशंसनीय है। इस प्रकारसे कर्मपक्ष, भक्तिपक्ष तथा ज्ञानपक्षप्रधान प्रचुर विचारोंसे विभूषित होकर अब गीता सकल अधिकारियोंके लिये ही अनायासबोध्य तथा कल्याणदायिनी बन गई है।

गीताके ऊपर भिन्न भिन्न भावप्रधान भाष्यों तथा टीकाओंके विषयमें दिग्दर्शन कराकर अब भगवद्वाक्यरूपी गीता-

के सच्चे स्वरूपके विषयमें विचार किया जाता है। गीताकी उत्पत्तिके विषयमें प्रचलित श्लोक यह है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

समस्त उपनिषद् गऊ रूप है, भगवान् श्रीकृष्ण उस गऊके दुहनेवाले हैं, बछड़ेरूपसे अर्जुन गऊका पन्हानेवाला है, पन्हाने तथा दुहनेके बाद जो गीतारूपी अमृत निकला, बुद्धिमान् भक्तगण उसके पीनेवाले हैं। बछड़ा केवल गऊको पन्हा देता है, सब दूधको नहीं पीता है, दूध और लोग पीते हैं, यही लौकिक प्रथा है। इससे यही सिद्धान्त निकलता है कि जिस प्रकार कुरुक्षेत्रके युद्धमें श्रीभगवान् कृष्णने—

'मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'

हे अर्जुन! मैंने पहिलेसे इन सबको मार रक्खा है, तुम केवल निमित्त मात्र हो ऐसा कहकर यह जता दिया था कि युद्धमें अर्जुन निमित्तमात्र है, ठीक उसी प्रकार गीताके उपदेशमें भी अर्जुन निमित्तमात्र ही थे। इसीको श्रीभगवान् शंकराचार्यने गीताके द्वितीयाध्यायके ११वें श्लोकके भाष्यमें—

'सर्वलोकानुग्रहार्थं अर्जुनं निमित्तीकृत्याह भगवान् वासुदेवः'

सकल लोक कल्याणके लिये अर्जुनको निमित्त बनाकर श्रीभगवान् वासुदेवने गीताका उपदेश किया था इस प्रकार वर्णन करते हुए तत्त्वनिर्णय किया है। वास्तवमें थोड़ी चिन्ता करनेपर भी यह पता लगता है कि केवल अर्जुनको लड़ानेके

निमित्त इतनी बड़ी गीताके कहनेका विशेष प्रयोजन नहीं था। बुद्धिमान् जन सोच सकते हैं कि जब दस अध्याय तक गीता कह डालनेपर भी अर्जुनके अन्तःकरणको पूरा समाधान प्राप्त नहीं हुआ और तत्पश्चात् विराट्रूप दिखाकर उनके निमित्तरूप होनेका प्रत्यक्ष करानेपर ही समाधान हुआ, तो केवल अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये इतनी बड़ी गीता कहनेकी कोई भी आवश्यकता सिद्ध नहीं होती। अर्जुन तो केवल पन्हानेवाले ही थे, बाकी जगत्कल्याणके लक्ष्यसे ही समाधिस्थ होकर श्रीभगवान्ने गीता कही थी। "दुर्दान्त कलियुग आ रहा है, मेरे निजधाममें प्रवेश करनेके बाद ही कराल कलिका भीषण आक्रमण समस्त संसारपर होगा, लोग कर्म उपासना ज्ञानपथ भ्रष्ट होकर नितान्त दैन्य दशाको प्राप्त करेंगे, इस भावी विपत्तिसे जीवको बचाकर सत्यपथ प्रदर्शनके लिये कर्मोपासना ज्ञान सामञ्जस्य पूर्ण उपदेशकी परम आवश्यकता है" ऐसा दिव्य भाव, मधुर करुणाभाव हृदयमें धारण करके ही अर्जुनको निमित्त बनाकर श्रीभगवान्ने गीताका उपदेश किया था। यही यथार्थ तत्त्व है। अतः यह कह देना कि अर्जुनको लड़ाईमें प्रवृत्त करनेके लिये युद्धभूमिमें गीता कही गई है इस कारण गीतामें कर्मकी प्रधानता और ज्ञानोपासनाकी गौणता है—यह विचार युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। द्वितीयतः सर्व कर्म संन्यास पूर्वक भिक्षापात्र हाथमें लेकर मोक्षके लिये जंगलमें चले जानेके लिये भी अर्जुनको रणक्षेत्रमें गीता नहीं कही जा

सकती। क्योंकि अर्जुन तो अहन्ता ममताके वशीभूत होकर गाण्डीवको छोड़ ही चुका था। उसी कर्मत्यागमें प्रकारान्तर-से प्रोत्साहन भगवान् कैसे दे सकते थे। जिस अर्जुनने—

'निर्वाणमपि मन्येऽहमन्तरायं जयश्रियः'

ऐसा कविके मुखसे कहाकर किसी समय विजयश्री लाभके सम्मुख निर्वाणमोक्षको भी तुच्छ किया था, उसके प्रति नीरे मोक्षका उपदेश करना अनधिकार चर्चा मात्र है। इस कारण ऐसा भी सिद्धान्त निर्णय करना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। तृतीयतः सब कुछ छोड़कर देवर्षि नारद्की तरह वीणावादन करते हुए केवल हरिनाम कीर्त्तनके लिये भी राजच्युत क्षत्रियवीर अर्जुनको गीताका उपदेश नहीं शोभा देता है। यदि ऐसा होता तो सब कुछ कहनेके बाद अन्तमें 'तस्माद् युध्यस्व भारत' 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' इत्यादि युद्धप्ररोचक वाक्य गीतामें नहीं होते। अतः सिद्धान्त हुआ कि केवल ज्ञान, केवल भक्ति या केवल कर्म विज्ञानके सिखानेके लिये श्रीभगवान्ने अर्जुनको गीता नहीं कही थी। गीतोपदेशमें अर्जुन निमित्तमात्र ही थे, कर्मोपासना ज्ञानसामञ्जस्य द्वारा निखिल संसारका परमकल्याण साधन करना और उसी बीचमें अर्जुनके द्वारा युद्ध कराकर धर्मका विजय करा देना यही गितोपदेशका उद्द्देश्य था।

अब गीताके इसी प्रतिपाद्य विषयपर विशेषतया विचार किया जाता है। पहिले ही कहा गया है कि, समस्त उपनिषदों-

का दोहन करके सार गीतारूपी अमृत निकाला गया है। उप अर्थात् समीप परमात्माके जिस विद्याके द्वारा जाया जाय उसको उपनिषद् या ब्रह्मविद्या कहते हैं। इसलिये गीता भी ब्रह्मविद्या है। अतः ब्रह्मप्राप्तिके लिये जिन साधनों-की स्वतः अपेक्षा है गीताके प्रतिपाद्य विषय वे अवश्य होंगे। ब्रह्म सत् चित् आनन्दरूप हैं। उनके मौलिक सत्भावके ऊपर द्वैतभावमय निखिल प्रपञ्चका विस्तार है, जिसके साथ कर्मका नित्य सम्बन्ध है। उनके मौलिक आनन्दभावके ऊपर रागद्वेषमय संसारका अनन्त सुखदुःखमय दृश्य है जिसके साथ उपासनाका सम्बन्ध है और उनके मौलिक चित्भावके ऊपर समस्त विश्वमें व्याप्त अनन्त ज्ञानकलाका विलास है। अतः सत्चित् आनन्दमय ब्रह्मकी उपलब्धिके लिये कर्म उपासनाज्ञानकी सामञ्जस्यानुसार साधना नितान्त आवश्यक तथा उपयोगी है इसमें अणुमात्र संशय नहीं है। निष्काम कर्मयोगके द्वारा परमात्माके सत्भावकी उपलब्धि, उपासनायोगके द्वारा उनके आनन्दभावकी उपलब्धि और ज्ञानयोगके द्वारा उनके चित्भावकी उपलब्धि कर साधक कृतार्थ हो जाता है। इसी कारण श्रीमद्भागवतमें उद्धवको श्रीभगवान्ने कहा है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्यत्र कुत्रचित्॥

मनुष्यके कल्याणके लिये ज्ञान, कर्म और उपासना ये

तीन ही योग कहे गये हैं, इसके सिवाय कहीं और कोई भी उपाय नहीं है। पूर्ण भगवान्के मुख निःसृत होनेसे गीतामें कर्म, उपासना, ज्ञान तीनोंकी पूर्णता है। मनुष्य प्रायः वासनाके वेगसे ही सकाम भावानुसार कर्म करता है और जहांपर वासनातृप्तिका मौका नहीं वहां कर्मको छोड़ बैठता है। निष्काम कर्ममें इन दोनोंका सामञ्जस्य रहनेसे कर्मकी पूर्णता निष्काम कर्मयोगमें ही है। इसमें कर्मका त्याग भी नहीं है और फलमें स्पृहा करनेके कारण कुछ न करनेके तुल्य भी है। गीतामें श्रीभगवान्ने इसी कर्मयोगका वर्णन करके कर्मतत्त्वको पूर्णता पर पहुंचा दिया है। यथा—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म फलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥
योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

तुम्हारा कर्ममें अधिकार है, किन्तु उसके फलमें कदापि नहीं, तुम्हें फलाकांक्षासे कर्म नहीं करना चाहिये और फल नहीं मिलता ऐसा सोच कर कर्म त्याग भी नहीं करना चाहिये। फलमें आसक्तिशून्य होकर योगयुक्तभावसे तथा सिद्धि असिद्धिमें समभावापन्न हो कर्म करो, इस प्रकार समभावापन्न होनेका नाम ही योग है। ये ही सब गीतामें उपदिष्ट कर्मयोगकी पूर्णताके प्रकाशक वचन हैं। इसी प्रकार उपासनाकी भी पूर्णता गीतामें पायी जाती है। सबसे

निम्नश्रेणिकी उपासना भूत प्रेतकी उपासना है। उसके अनन्तर पितर, उसके अनन्तर देवता, उसके अनन्तर अवतार, उसके अनन्तर सगुण ब्रह्म और सबके अन्तमें निर्गुण ब्रह्मकी उपासना है। इन सभी उपासनाओंका वर्णन गीतामें एक ही श्लोकके द्वारा कर दिया गया है। यथा—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपिमाम् ॥

देवोपासकगण देवलोकको, पिरतोपासकगण पितृलोकको, प्रेतोपासकगण प्रेतलोकको और ब्रह्मोपासकगण ब्रह्मधामको जाते हैं। इसी ब्रह्मोपासनाके सगुण निर्गुण तथा अवतार पूजा रूपसे नाना भेद गीताके द्वादशाध्याय तथा अन्यान्य अध्यायोंमें विस्तृत भावसे बताये गये हैं। और इनकी साधनाके लिये मन्त्र, हठ, लय, राज इन चार योगोंके भी प्रचुर वर्णन बीचके छः अध्यायोंमें किये गये हैं। ये ही सब गीतामें उपासनाकी पूर्णताके दृष्टान्त हैं। इस प्रकारसे ज्ञानकी पूर्णताके भी बहुत लक्षण गीतामें पाये जाते हैं। यथा—

'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।'
'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ।'
'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।'
'सर्वंकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।'
'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।'

'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।'
'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।'

ज्ञान जैसी पवित्र वस्तु कहीं नहीं है। ज्ञानके सहारेसे सब पाप कट जाते हैं, अनेक जन्म साधनाके बाद ज्ञानके द्वारा ही परमात्मा प्राप्त होते हैं, समस्त कर्मोंकी परिसमाप्ति ज्ञानमें ही जाकर होती है, ज्ञानकी अग्निमें समस्त कर्म भस्मीभूत होजाते हैं, प्रेमके साथ भगवदुपासनामें लगे रहने पर भगवान् ज्ञान योग देते हैं जिसके द्वारा भक्त भगवान्को प्राप्त कर लेता है। ये ही सब गीतामें वर्णित ज्ञानकी पूर्णताके लक्षण हैं। अपूर्ण ज्ञान किसी साम्प्रदायिक पक्षपातको लेकर होता है, उसकी उदारता ससीम तथा परिच्छिन्न होती है। गीतामें इस प्रकार साम्प्रदायिकता कहीं भी नहीं है। इसी पूर्णताके कारण ही गीता सकल सम्प्रदाय, सकल धर्म तथा उपधर्मकी प्रिय वस्तु है। यदि गीता पूर्ण भगवान्के मुखसे न निकलती तो इस प्रकार सर्वजनप्रियता गीतामें कभी न आ सकती। यही श्रीमद्गीताकी सार्वजनीन पूर्णता तथा ज्ञानजगत्में निखिलकल्याणकारिता है।

गीतामें केवल कर्म उपासना ज्ञानकी ही पूर्णता नहीं है, अधिकन्तु इन तीनों योगोंकी समता तथा सामञ्जस्य भी है। इसी कारण सब अध्यायोंमें सब विषयका वर्णन रहने पर भी प्रधानतः प्रथम ६ अध्यायोंमें कर्मका वर्णन, द्वितीय ६ अध्यायोंमें उपासनाका वर्णन और अन्तिम ६ अध्यायोंमें ज्ञानका

वर्णन देखनेमें आता है। वास्तवमें कर्म उपासना ज्ञानके सामञ्जस्यानुसार आश्रयके विना सत् चित् आनन्दरूप ब्रह्मकी यथार्थ उपलब्धि नहीं हो सकती। त्रिगुण त्रिभावमय संसारमें इन तीनोंका अवस्थानुसार विकाश नैसर्गिकरूपसे ही होता रहता है। जिस समय तमोगुणके विशेष प्रभावके द्वारा रजोगुण सत्त्वगुण आच्छन्न तथा अभिभूत हो जाता है उस समय जीवको निद्रा आ जाती है। इसके बाद जब तमोगुण कुछ रजोगुणकी ओर झुकने लगता है तो जीवको निद्रा छोड़ कर कर्म करनेकी इच्छा होती है। तदनन्तर तमोगुणके दब जाने और रजोगुणके सत्त्वगुणाभिमुखीन होनेके समय जीवकी प्रवृत्ति उपासनाकी ओर हो जाती है। और अन्तमें जब सत्त्वगुणका विशेष प्रकाश तथा रजोगुण तमोगुणका अभिभव हो जाता है तो ज्ञानका स्वाभाविक उदय मनुष्योंमें होने लगता है। इस प्रकारसे त्रिगुण-तारतम्यानुसार कर्मोपासना ज्ञानका किसी न किसी रूपमें नैसर्गिक विकाश मनुष्य मात्रमें बना रहता है। इन तीनोंके अधिकारको सामञ्जस्यानुसार बढ़ाते बढ़ाते पूर्णता पर पहुँचा देनेसे ही जीवको निःश्रेयस प्राप्त होता है। जीव शरीरमें प्रधान तीन वस्तु हैं यथा—शरीर, मन और बुद्धि। इन तीनोंके चाञ्चल्यसे ही जीवको संसारबन्धन उत्पन्न होता है और इन तीनोंकी शान्तिमें ही अपवर्गकी प्राप्ति है। शरीरमें स्थूल इन्द्रियादि भोगलालसा निष्काम कर्मयोगके द्वारा अवश्य नष्ट होती है, क्योंकि जो रात दिन दूसरेकी सेवामें ही शरीरको लगा रखता है, दूसरेके सुखके

लिये ही सब कुछ समर्पण कर देता है, उसमें व्यक्तिगत सुखादि लालसा नहीं रह सकती है। इसी प्रकार उपासनके द्वारा मनोनिरोध होनेसे मनका चाञ्चल्य नाश और ज्ञानके द्वारा अविद्याका नाश होनेसे बुद्धि प्रतिष्ठित होती है। अतः शरीर मन बुद्धि तीनोंको शान्त करके निःश्रेयस लाभ करनेके लिये सामञ्जस्यानुसार कर्म उपासना ज्ञानकी साधना ही श्रेष्ठतम उपाय है, यह निश्चय हुआ। जीव प्रकृति पर ध्यान देनेसे देखा जाता है कि प्रायः संसारमें तीन ही प्रकारके जीव होते हैं यथा—शरीरप्रधान (Physical), मनःप्रधान (Emotional) और बुद्धिप्रधान (Intellectual) अतः इन तीनों प्रकृतियोंके अधिकारको देख कर उपाय बताना ही साधनाका लक्षण होगा। शरीर-प्रधान जीवके लिये कर्मयोग, मनः-प्रधान जीवके लिये उपासनायोग और बुद्धि-प्रधान जीवके लिये ज्ञानयोग ये ही उपाय हो सकते हैं जैसा कि ऊपर कहा गया है। अतः कर्मोपासनाज्ञानके सामञ्जस्यमें ही आत्मोन्नतिका रहस्य है। परमात्मामें अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये तीन भाव होते हैं। उनका अध्यात्म भाव मायासे परे निर्गुण ब्रह्म है। उनका अधिदैव भाव मायाका सञ्चालक सृष्टिस्थितिप्रलयकारी ईश्वर है। उनका अधिभूत भाव अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमय विराट है। इन तीनों भावोंकी सम्यक् उपलब्धिके विना स्वरूपस्थिति नहीं होती है। कर्मके द्वारा अधिभूत भावकी, उपासनाके द्वारा अधिदैव भावकी और ज्ञानके द्वारा अध्यात्म भावकी उपलब्धि करके साधक

कृतकृत्य हो जाता है। अतः आत्मानुभव व्यापारमें कर्म-उपासना ज्ञानका सामञ्जस्यानुसार प्रयोग नितान्त आवश्यक है। आत्मा स्वयंप्रकाश है, किन्तु जिस प्रकार मेघके द्वारा दृष्टिके आच्छन्न होने पर सूर्य देखनेमें नहीं आते, ठीक उसी प्रकार स्थूल शरीरका मल, सूक्ष्म शरीरका विक्षेप और कारण शरीरका आवरण, आत्मदर्शन पथमें इन तीनों बाधाओंके रहनेसे परमात्मा प्रत्यक्ष नहीं होते। कर्मके द्वारा मल नाश, उपासनाके द्वारा विक्षेप नाश और ज्ञानके द्वारा आवरण नाश होता है और तभी यथार्थरूपसे आत्माका अनुभव हो जाता है। यही सब कारण है कि श्रीमद्गीतामें श्रीभगवान्ने निखिल जीवोंके आत्यन्तिक कल्याणार्थ सामञ्जस्यानुसार कर्मउपासना ज्ञानका उपदेश किया है।

कर्म उपासना ज्ञानके भीतर सामञ्जस्यके अतिरिक्त परस्परापेक्षित्व भी है। इसलिये इनमेंसे किसी एकके विना दूसरेमें पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं होती। कर्मी यदि उपासना न करे तो अहङ्कारी अवश्य हो जायगा और अपने ही को कर्त्ता समझ कर कर्मबन्धनमें बद्ध हो जायगा। कर्मके साथ उपासनाका मधुरसंमिश्रण रहनेसे कर्मी सदा ही समझेगा कि उसकी सारी कर्मशक्ति भगवान्की दी हुई है, वह केवल यन्त्र मात्र है, इसलिये फलाफल जो कुछ हो वह भगवान्का ही है, उसका नहीं। ऐसा उपासना मूलक विचार रखनेसे कर्मयोग ठीक होता है और अनन्त कर्मोंको करते हुए भी जीव बन्धनको न पाकर मुक्तिको ही लाभ

करता है। इसी प्रकार कर्मके साथ ज्ञान न रहनेसे 'कौन कर्म, कौन अकर्म और कौन विकर्म' है, इसका पता कभी भी नहीं लगेगा, जिस कारण कर्ममें गलती अवश्य ही होजायगी। अतः प्रमाणित हुआ कि कर्मयोगकी सफलतामें उपासना-योग तथा ज्ञानयोगकी सहायताकी विशेष आवश्यकता है। इसी प्रकार उपासनामें भी यदि कर्म तथा ज्ञानका सहारा न मिले तो उपासक पूर्णता पर पहुंच नहीं सकता है। कर्महीन उपाशना आलस्य, जड़ता आदिको उत्पन्न कर देती है। ध्यान या जपादिके करते करते बहुत समय निद्रा आने लगती है, और शरीर सञ्चालन कुछ भी न रहनेसे मनुष्य जड़ताग्रस्त हो जाता है। द्वितीयतः ज्ञानहीन उपासना परमात्माके यथार्थ स्वरूपके विषयमें हृदयको आच्छन्न करके साम्प्रदायिक बहुत कुछ अनुदारता तथा पक्षपात उपासकके अन्तःकरणमें ला देती है। ऐसा उपासक प्रायः अपने ही इष्ट-को भगवान् समझ कर बाकी सबको तुच्छ समझने लगता है, अन्यान्य भगवन्मूर्तियोंके प्रति द्वेषभावापन्न हो जाता है और बहुधा उनका खण्डन करते हुए अपने ही इष्टकी सर्व-व्यापकताको भ्रमसे खण्डित कर देता है। अतः सिद्ध हुआ कि उपासनायोगमें सिद्धि लाभके लिये कर्मयोग तथा ज्ञानयोगकी विशेष अपेक्षा रहती है। इसी प्रकार ज्ञानयोगमें भी कर्मयोग तथा उपासनायोगकी सहयोगिता अपेक्षित है। क्योंकि बिना कर्मयोगकी सहायताके अपनी व्यष्टिसत्ताको समष्टिसत्तामें लवलीन करना दुःसाध्य हो जाता है, जिस

कारण ब्रह्मोपलब्धिरूप ज्ञानयोगकी सिद्धि भी अति कठिन हो जाती है और उपासनाके बिना ज्ञान तो शुष्क तर्करूपमें तथा वाचिक ज्ञानरूपमें ही परिणत होजाता है। हृदयकी कोमलता, मधुरता, सरसता आदि मधुमय वृत्तियां नष्ट होने लगती हैं और योगदर्शनोक्त 'तीव्र संवेग' अर्थात् परमात्माके प्रति वेगवती गङ्गाकी तरह हृदयका प्रबल वेग जिसके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार 'आसन्नतम' हो सकता है वह तो असम्भव ही होजाता है। अतः देखा गया कि ज्ञानयोगकी पूर्णता-में भी कर्मयोग तथा उपासनायोगकी चिरसहचारिता नितान्त अपेक्षणीय है। यही कर्मोपासना ज्ञानमें परस्परापेक्षित्व है। यही कारण है कि भवरोगवद्य रूपी वेदमें कर्मकाण्डप्रति-पादक ब्राह्मण, उपासनाकाण्डप्रतिपादक संहिता और ज्ञान-काण्डप्रतिपादक उपनिषद्—इस प्रकारसे तीन काण्ड देखनेमें आते हैं और यही कारण है कि श्रीभगवान्‌के मुखारविंद निःसृत गीतामें भी कर्म-उपासना-ज्ञानकी अलौकिक समता तथा सामञ्जस्य विधान करके समस्त संसारका अपूर्व कल्याणसाधन किया गया है। इस प्रकारसे ज्ञानरूपिणी गङ्गाप्रवाहिनी, कर्मरूपिणी यमुनाप्रवाहिनी और उपासना-रूपिणी सरस्वती प्रवाहिनी तीनोंके मधुर सम्मिलनसे पुण्यमय गीताक्षेत्रमें दिव्य त्रिवेणीकी प्रतिष्ठा हो गई है जिसके पवित्र सलिलमें अवगाहन स्नान करके मनुष्य मात्र ही मुक्तिलाभ कर सकते हैं।

यहां 'सुधी श्रोताओं' के लिये निःश्रेयसप्रद गीताका उप-

देश है। 'वत्स' पार्थको निमित्त बनाकर श्रीभगवान्‌ने जगत् को इसी गीताका उपदेश किया था और अधिकारानुसार अर्जुनको यही कहा था कि—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥

हे अर्जुन! तुम जो कुछ करो, खाओ, हवन करो, दान करो या तपस्या करो सभी मुझमें समर्पण करना। यही अर्जुनके अधिकारानुसार ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्मयोगका उपदेश है, जिसके करनेसे धर्मयुद्धमें विजय लाभ होकर अर्जुनके 'नरावतार' धारण रूपी उद्देश्य भी सार्थक होगा और यथाकाल चित्तशुद्धि द्वारा उपासना तथा ज्ञानाधिकार लाभ होकर निःश्रेयस भी अर्जुनको प्राप्त हो सकेगा। समस्त जगज्जन श्रीभगवान् नन्दनन्दनके इस गम्भीर सारगर्भित उपदेशके अलौकिक रहस्यको हृदयङ्गम कर लेवे यही उनके राजीव चरणोंमें विनीत प्रार्थना है।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!



ध्यानम् ।

—:※:—

पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयम्,
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारते ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाऽध्यायिनीम्,
अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥
नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयप्रदीपः ॥
प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥
भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला,
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला ।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्त्तिनी,
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवैः रणनदी कैवर्त्तकः केशवः ॥
यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो,
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

ॐ तत् सत् ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।



प्रथमोऽध्यायः ।

धृत० उ०—धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १ ॥

अन्वय—हे सञ्जय ! (हे सञ्जय !) धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे (धर्मक्षेत्ररूप कुरुक्षेत्रमें) युयुत्सवः (युद्ध करनेकी इच्छा रखनेवाले) समवेताः (एकत्रित) मामकाः (मेरे पुत्र दुर्योधनादि) पाण्डवाः च एव (और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरादिने) किं अकुर्वत (क्या किया) ?

सरलार्थ—धृतराष्ट्रने कहा—हे सञ्जय ! कुरुक्षेत्रकी पुण्यभूमिमें युद्ध करनेकी इच्छासे एकत्रित मेरे पुत्रगण तथा पाण्डवोंने क्या किया ?

चन्द्रिका—भगवद्गीताका यह विषय महाभारतके भीष्मपर्वमें २५ वें अध्यायसे ४२ वें अध्याय तक वर्णन किया गया है । इसका पूर्व वृत्तान्त यह है—युद्धारम्भसे पहिले भगवान् वेदव्यासने राजा धृतराष्ट्रसे जा कर पूछा कि 'यदि तुम्हारी इच्छा युद्ध देखनेकी हो तो मैं तुम्हें दृष्टि

दे सकता हूं’। किन्तु अपने ही सामने अपने वंशनाशको देखना धृतराष्ट्रने उचित न समझा। इस पर धार्मिक सञ्जयको वेदव्यासने दिव्यदृष्टि दे दी ताकि एक ही स्थान पर बैठे बैठे सब घटनाओंको जान सके। इसी सञ्जयने भीष्मदेवके आहत होने पर जब धृतराष्ट्रको जाकर कहा तो राजा धृतराष्ट्रने प्रारम्भसे समस्त घटनाओंको जानना चाहा। इसी पर श्रीकृष्णार्जुन सम्वादको कहते हुए गीताकी घटना सञ्जयने धृतराष्ट्रको कही थी जिसके ये ही सात सौ श्लोक हैं। जो वस्तु गायी जाय या कही जाय उसे गीता कहते हैं। श्रीभगवान्‌के द्वारा गायी हुई अर्थात् कही हुई यह ब्रह्मविद्या इसलिये भगवद्‌गीता कही गई है। गीता उपनिषद्‌का सार है और संस्कृत व्याकरणमें उपनिषद् शब्द स्त्रीलिङ्ग माना गया है, इस कारण उपनिषद्‌के विशेषणरूपसे गीता शब्दका भी स्त्रीलिंगमें ही व्यवहार हुआ है। हस्तिनापुरकी चारों ओरकी भूमि कुरुक्षेत्र कहलाती है। कौरव-पाण्डवोंके पूर्वज कुरु नामक एक राजाने यज्ञार्थ इस भूमिको कर्षण किया था। उनके इस प्रकार हल जोतनेके कारण ही इसका नाम कुरुक्षेत्र पड़ा है। पश्चात् इन्द्र-देवने कुरु राजाको वर दिया था कि जो इस भूमिमें तपस्या द्वारा या युद्ध करते करते प्राण त्याग करेंगे उनको विशेष सद्‌गति प्राप्त होगी। इसी कारण कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र कहलाता है। इसके सिवाय जाबाल-श्रुतिमें भी लिखा है—‘यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्’ कुरुक्षेत्रमें ही देवताओंने यज्ञ किया था, जिसके अनन्तर सकल भूतोंकी सृष्टि हुई थी। अतः देवताओंका यज्ञस्थान, सकल जीवोंका प्रथम उत्पत्तिस्थान तथा मोक्षभूमि होनेके कारण कुरुक्षेत्रकी इतनी महिमा है। ऐसी धर्मभूमिमें एकत्रित कौरव पाण्डवोंके हृदयमें

धर्मभावका प्रभाव उत्पन्न होकर युद्धकार्यमें अन्यथा तो नहीं होगई, इस प्रकार आशङ्काके कारण ही 'किमकुर्वत' अर्थात् क्या किया इस प्रकार प्रश्न करनेका अवसर राजा धृतराष्ट्रको प्राप्त हो गया है। यदि धर्मभावके प्रभावसे पाण्डवगण कुटुम्बनाशकारी संग्रामको छोड़ दें तो विना युद्ध किये ही उनके पुत्रोंको राज्य मिल जायगा, अथवा यदि उनके पुत्रोंका ही पापहृदय धर्मभूमिके प्रभावसे पापमुक्त हो जाय तो इतना उद्योग सब व्यर्थ हो जायगा—इस प्रकार सन्देहके कारण ही यह प्रश्न हुआ है। अपने पुत्रोंके प्रति 'मामकाः' अर्थात् 'मेरे' ऐसा कहकर पाण्डवोंके प्रति उनका ममत्व नहीं है, किन्तु द्रोहभाव है यही सूचित किया गया है। 'सञ्जय' शब्दसे सम्बोधन करनेका तात्पर्य यह है कि 'तुम सञ्जय अर्थात् रागद्वेष आदिको जय किये हुए हो इसलिये यथार्थ घटनाओंको ठीक ठीक बतलाओगे, कुछ छिपावोगे नहीं'। इस प्रकारसे प्रश्न करनेपर सञ्जयने क्या उत्तर दिया सो परवर्त्ती श्लोकमें कहा गया है ॥ १ ॥

सं० उ०—दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

अन्वय—पाण्डवानीकं (पाण्डवोंकी सेनाको) व्यूढं (व्यूह रचकर खड़ी) दृष्ट्वा (देखकर) तु (किन्तु) राजा दुर्योधनः (राजा दुर्योधन) आचार्यं (द्रोणाचार्यके) उपसङ्गम्य (समीप जाकर) वचनं (आगे कहे हुए वाक्य) अब्रवीत् (बोले)।

सरलार्थ—सञ्जयने कहा—किन्तु पाण्डवोंकी सेनाको

व्यूह रचनाके द्वारा अवस्थित देखकर राजा दुर्योधन आचार्य द्रोणके पास जाकर आगे कहे हुए वाक्योंको बोलने लगे।

चन्द्रिका—धर्मक्षेत्रके प्रभावसे अपने पुत्रोंकी पापबुद्धि नष्ट होकर संग्राममें अरुचि होना असम्भव है ऐसा प्रकट करनेके लिये सञ्जयने प्रथमतः दुर्योधनकी ही बात की। दुर्योधनपर धर्मभूमिका असर कुछ भी न पड़ा, किन्तु उलटा उन्होंने द्रोणाचार्यके पास जाकर उन्हें संग्रामके लिये उत्तेजित करना शुरू किया, इस बातको बतानेके लिये 'तु' अर्थात् 'किन्तु' शब्दका प्रयोग किया गया है। दुर्योधन राजा थे, इसलिये आचार्यको अपने ही पास बुला सकते थे, किन्तु ऐसा न करके स्वयं उनके पास चले जानेमें यह सूचित होता है कि पापी होनेके कारण तथा भीमार्जुनका प्रताप विदित होनेके कारण उनके चित्तमें विशेष भय था। भय होनेपर भी उस भयको छिपाना राजनीति कुशलता है, इस कारण राजा और आचार्य शब्दद्वयका प्रयोग हुआ है, क्योंकि शिष्यको राजा होनेपर भी आचार्यके पास स्वयं जानेमें कोई दोष नहीं है। इस प्रकारसे अपने शिक्षागुरु द्रोणाचार्यके पास जाकर दुर्योधन नीचे लिखे वाक्योंको कहने लगे॥ २॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य! महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ ३॥

अन्वय—हे आचार्य! (हे आचार्य!) तव शिष्येण धीमता द्रुपदपुत्रेण (आपके शिष्य बुद्धिमान् द्रुपदराजपुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा) व्यूढां (व्यूहरूपमें सजी हुई) पाण्डुपुत्राणां (पाण्डवोंकी) एतां महतीं चमूं (इस बड़ी सेनाको) पश्य (देखिये)।

सरलार्थ—हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद-राजाके पुत्र धृष्टद्युम्नने पाण्डवोंके विशाल सैन्योंको व्यूह-रचनामें सजा रक्खा है सो देखिये ।

चन्द्रिका—कौरवोंकी अपेक्षा पाण्डवगण द्रोणाचार्यके अधिक प्रिय शिष्य थे । इसलिये प्रेम तथा स्नेहवश आचार्य यदि संग्राममें शिथिलता करें, इस आशङ्कासे पहिले ही से आचार्यके हृदयमें क्रोध उत्पन्न करनेका दुर्योधनने उद्योग किया । उन्होंने कहा 'धृष्टद्युम्न आपका शिष्य होने पर भी आपहीके संहारके लिये प्रस्तुत हुआ है और वह आपके चिरद्वेषी द्रुपद राजाका पुत्र है, ऐसे गुरुद्रोही शिष्यकी धृष्टता कदापि क्षमा करने योग्य नहीं है ।' श्लोकमें 'शिष्य' शब्द कहनेका तथा 'धृष्टद्युम्न' न कह कर द्रुपदपुत्र कहनेका यही तात्पर्य है । किन्तु पराक्रमी होनेपर भी आखिर शिष्य ही है, शिष्यसे गुरुका बल सदा अधिक ही होता है, अतः वह उपेक्षाके योग्य है, ऐसी चिन्ता आचार्य न करें, इसलिये 'धीमता' शब्दका प्रयोग हुआ है । अर्थात् शिष्य होने पर भी बुद्धिमान् शिष्य है, इस कारण उससे सदा सावधान रहना चाहिये । इस प्रकारसे दुर्योधनने पाण्डवोंके प्रति द्रोणाचार्यके क्रोध उत्पन्न करनेकी चेष्टा की । धर्मक्षेत्रमें आने पर भी जिसकी इस प्रकार कुटिल बुद्धि है वह दुर्योधन धर्मक्षेत्रके प्रभावसे युद्ध छोड़ देगा, यह धृतराष्ट्रकी धारणा मिथ्या है, इस श्लोकके द्वारा यह भी सूचित हुआ । युद्धमें सैन्योंकी विशेष विशेष सजावटको व्यूह कहते हैं । महाभारतमें लिखा है कि इस समय पाण्डवोंने भीष्मके द्वारा रचे हुए कौरव सैन्यव्यूहका सामना करनेके लिये वज्रव्यूहकी रचना की थी ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रांत उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

अन्वय—अत्र (इस सेनामें) शूराः (वीरगण) महेष्वासाः (महान् धनुषधारिगण) युधि (युद्धमें) भीमार्जुनसमाः (भीम और अर्जुनके तुल्य) महारथः (एकाकी ग्यारह हजारके साथ लड़नेवाले महारथी) युयुधानः (सात्यकि) विराटः च द्रुपदःच (विराट और द्रुपद) वीर्यवान् (वीर) धृष्टकेतुः चेकितानः काशिराजश्च (धृष्टकेतु, चेकितान और काशीराज) नरपुङ्गवः (नर-श्रेष्ठ) पुरुजित्, कुन्तिभोजः च् शैव्य च (पुरुजित्, कुन्तिभोज और शैव्य) विक्रान्तः (पराक्रमी) युधामन्युः (युधामन्यु) वीर्यवान् (वीर) उत्तमौजाः च (उत्तमौजा) सौभद्रः (सुभद्रापुत्र अभिमन्यु) द्रौपदेयाः (प्रतिविन्ध्य आदि द्रौपदीके पांच पुत्र) च (और भी घटोत्कच आदि) सर्व एव (ये सभी) महारथाः (महारथी हैं) ।

सरलार्थ—इस सेनामें भीमार्जुनके समान महान् बल-शाली तथा धनुषधारी महारथ सात्यकि, विराट और द्रुपद, वीर धृष्टकेतु, चेकितान और काशीराज, नरश्रेष्ठ पुरुजित्, कुन्तिभोज और शैव्य, पराक्रमी युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा,

अभिमन्यु, द्रौपदीतनय प्रतिबिन्ध्यादि और घटोत्कचादि वीरगण उपस्थित हैं । ये सभी महारथ हैं ।

चन्द्रिका—युद्धमें केवल धृष्टद्युम्न ही वीर नहीं है जिससे निश्चिन्त भी रह सकते हैं किन्तु और भी अनेक पराक्रमी योद्धा एकत्रित हुए हैं, जिस कारण आचार्यको तथा सबको बहुत सावधान होकर युद्ध करना चाहिये—इसी बातको विदित करनेके लिये दुर्योधनने पाण्डवसैन्योंका वर्णन करना प्रारंभ किया । ये सभी वीर महान् धनुषधारी अर्थात् दूरसे ही शत्रुनाशमें समर्थ है, भीमार्जुनके समान युद्धकलामें परमनिपुण है और सभी महारथ हैं ।' युद्धमें अतिरथ, महारथ, रथ और अर्द्धरथ ये चार प्रकारके वीर होते हैं । उनमेसे असंख्य सेनाओंके साथ एकाकी युद्ध करनेवाले अतिरथ, ग्यारह हजार सैन्योंके साथ एकाकी संग्राम करनेवाले महारथ, एकके साथ युद्ध करनेवाले रथ और उससे भी न्यून अर्द्धरथ कहलाते हैं । पाण्डवसैन्योंमे ये सभी महारथ हैं यही दुर्योधनका कहना है ॥ ४-५-६ ॥

अस्माकन्तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम !
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

अन्वय—हे द्विजोत्तम ! (हे द्विजश्रेष्ठ आचार्य!) अस्माकं (हमारे) तु (किन्तु) ये (जो वीरगण) विशिष्टाः (श्रेष्ठ) मम (अपने) सैन्यस्य नायकाः (सेनाओंके नेता हैं) तान् (उनको) निबोध (जानिये) ते (आपके) संज्ञार्थं (ठीक ठीक जाननेके लिये) तान् ब्रवीमि (उनके नाम कहता हूं)

सरलार्थ—हे द्विजोत्तम आचार्य ! किन्तु हमारे भी पक्षमें

जो प्रधान प्रधान व्यक्ति तथा सेनानायक एकत्रित हुए है उनको देखिये, आपके विशेष विदितार्थ उनके नाम लेता हूं।

चन्द्रिका—पाण्डव पक्षमें इतने इतने वीर हैं, जिनको देखकर तुम भयभीत होगये हो, इसलिये सन्धि ही क्यों नहीं कर लेते, ऐसा यदि आचार्य कह बैठे, इस कारण दुर्योधन पहिलेहीसे अपनी सेनाओंकी स्तुति करके उत्साह दिखा रहा है। श्लोकमें 'द्विजोत्तम' 'विशिष्टा' आदि शब्दोंके द्वारा अपने सैन्योंकी प्रशंसा करने पर भी 'तु' शब्दके द्वारा दुर्योधनने अपने हृदयका कुछ भय भी बताया है। और इस भयके छिपानेके लिये स्वपक्षीय योद्धाओंका महिमाकीर्तन किया है। यह सब राजाका राजनीतिकौशल है ॥ ७ ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तिर्जयद्रथः ॥ ८ ॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अन्वय—भवान् (आप) भीष्मः च (और भीष्म) कर्णः च (तथा कर्ण) समितिञ्जयः (युद्धविजयी) कृपः च (कृपाचार्य भी) अश्वत्थामा (द्रोणपुत्र) विकर्णः च (और अपना भाई विकर्ण) सौमदत्तिः (सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा) जयद्रथः (सिन्धुराज जयद्रथ) मदर्थे (मेरे लिये) त्यक्तजीविताः (प्राण त्यागनेको भी प्रस्तुत) नानाशस्त्रप्रहरणाः (शत्रुको प्रहार करनेके साधनस्वरूप अनेक शस्त्रोंसे युक्त)

सर्वे (सबके सब) युद्धविशारदाः (युद्धनिपुण) अन्ये च (और भी) बहवः (अनेक) शूराः (वीरगण) हैं।

सरलार्थ—स्वयं आप, भीष्मदेव, कर्ण, रणविजयी कृप, अश्वत्थामा, विकर्ण, भूरिश्रवा तथा जयद्रथ ये सब हमारे दलमें विशिष्ट नेतागण हैं। इनके सिवाय कृतवर्मादि और भी अनेक वीर हैं जो युद्धकलामें परमनिपुण. शत्रुप्रहार योग्य अनेक शस्त्रोंसे सुसज्जित तथा मेरे लिये सदा प्राण तक देनेको प्रस्तुत हैं।

चन्द्रिका—पूर्व श्लोकमें अपने पक्षके वीरोंका जो नाम गिनाना चाहा था, सो ही इन दो श्लोकोंमे गिनाया है। और यदि केवल चार पांच नाम सुनकर आचार्य थोड़ा ही समझें इस कारण यह भी कह दिया कि और भी अनेक अपने पक्षमे वीर हैं। वे केवल वीर ही नहीं हैं उनके पास अस्त्र शस्त्र भी बहुत हैं, सबके सब युद्धमें बड़े निपुण हैं और उनके प्रति प्रेम इतना रखते हैं कि प्राणतक न्योछावर करनेको तैयार हैं। इस प्रकारसे आचार्यको उत्साहित करनेके लिये दुर्योधनने अपनी सेनाओंका महिमाकीर्तन कर दिया ॥ ८–९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

अन्वय—अस्माकं (हमारा) तत् (वह) भीष्माभिरक्षितं (भीष्मके द्वारा सुरक्षित) बलं (सैन्य) अपर्य्याप्तं (अपरिमित) एतेषां (इनका) तु (किन्तु) भीमाभिरक्षितं (भीमके द्वारा सुरक्षित) इदं (यह) बलं (सैन्य) पर्याप्तं (परिमित) है।

सरलार्थ—वीरचूड़ामणि सूक्ष्मबुद्धि भीष्मके द्वारा सुरक्षित एकादश अक्षौहिणी संख्यक हमारा सैन्य शत्रुनाशके लिये अति यथेष्ट है। किन्तु स्थूलबुद्धि भीमके द्वारा सुरक्षित सप्त अक्षौहिणी संख्यक पाण्डवोंका सैन्य हमें जीतनेके लिये बहुत कम है।

चन्द्रिका—आचार्यको उत्साहित करनेके लिये पूर्वश्लोकोंमें सेनानायकोंका वर्णन करके अब इस श्लोकके द्वारा सेनासंख्याओंका दुर्योधनने वर्णन किया। उसकी सेना एकादश अक्षौहिणी है, किन्तु पाण्डवोंकी केवल सात अक्षौहिणी है। उनके सेनारक्षक वीरकेशरी परमधीमान् भीष्मदेव हैं और पाण्डवोंके सेनारक्षक स्थूलबुद्धि भीम हैं। अतः चिन्ता करनेका कोई कारण नहीं है, विजय ही अवश्यम्भावी है, यही इस श्लोकका तात्पर्य है। पूर्व श्लोकानुसार पाण्डव सैन्योंके व्यूह रचनेवाले द्रुपदपुत्र होनेपर भी सेनारक्षक भीम ही थे, इस कारण दुर्योधनको भीम ही सामने दीखे। एक अक्षौहिणी सेनामें २१८७० हाथीके सवार, २१८७० रथी, ६५६१० घुड़सवार और १०९३५० पैदल सैन्य सब समेत २१८७०० सैन्य रहते हैं। इस हिसाबसे कौरवपक्षमें कुल २४०५७०० सैन्य और पाण्डवपक्षमें कुल १५३०९०० सैन्य थे, यही निश्चित होता है ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

अन्वय—सर्वेषु च अयनेषु (व्यूहरचनाके अनुसार अपने अपने सभी स्थानोंमें) यथाभागं (सैन्यविभागके

अनुसार) अवस्थिताः (ठहरते हुए) सर्वे एव हि भवन्तः (आप सभी मिलकर) भीष्ममेव (भीष्मको ही) अभिरक्षन्तु (रक्षा करें)।

सरलार्थ—व्यूहरचनामें 'प्रधान अप्रधानके विचारसे आप सबके जो ठहरनेके स्थान हैं वहींपर अपने अपने विभागके अनुसार ठहरकर आप सब सेनापति भीष्मकी ही रक्षा करें।

चन्द्रिका—अपने सैन्योंका बल बताकर तब दुर्योधन युद्धारम्भ-समयका कर्त्तव्य बता रहे हैं। युद्धभूमिमें प्रधान अप्रधानके विचारसे योद्धाओंका जो ठहरनेका स्थान है उसे अयन कहते है। उसी अयनमें अपने अपने सैन्यविभागके अनुसार ठहरना और स्वेच्छासे अन्यत्र न चले जाना यही सब युद्धकालीन कर्तव्य होता है। सेनापति समस्त सैन्योंके बीचमें सबके नायकरूपसे रहते हैं। उनकी रक्षा करना, आगे लड़ते हुए पीछेसे उन्हे कोई मार न देवे, इसकी सावधानी रखना, सब सैन्योंका कर्तव्य होता है, इसीलिये दुर्योधनने सबको यह उपदेश दिया है। भीष्मदेव तो कालसे भी अजेय है, और स्वयं सबके रक्षक हैं, उनकी रक्षाके लिये दूसरेकी आवश्यकता क्या है, ऐसा यदि प्रश्न हो तो उसका उत्तर दुर्योधनने दूसरे स्थानमें इसी भीष्मपर्वके भीतर ही दिया है। वहांपर कहा है कि वीरपुङ्गव भीष्मको और किसीसे डर नहीं हैं, केवल शिखण्डी पर वे अस्त्र नहीं चलाते, इस कारण उससे ही घात न हो, इसीकी रक्षा करना है ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

अन्वय—प्रतापवान् (महाप्रतापशाली वीर) कुरुवृद्धः (वृद्धकौरव) पितामहः (भीष्मदेवने) तस्य (दुर्योधनके) हर्षं (उत्साह और उल्लासको) संजनयन् (उत्पन्न करते हुए) उच्चैः (उच्च शब्दसे) सिंहनादं विनद्य (सिंहनाद करके) शंखं दध्मौ (शंख बजाया)।

सरलार्थ—प्रतापशाली कुरुवृद्ध पितामह भीष्मदेवने दुर्योधनके चित्तमें हर्ष तथा उत्साह उत्पादन करनेके निमित्त उच्चस्वरसे सिंहनाद करके शंख बजाया।

चन्द्रिका—दुर्योधन बाहरसे साहस दिखानेपर भी भीतरसे भयभीत अवश्य थे और द्रोणाचार्यके सामने इतनी बात कहनेपर भी उन्होंने उत्साहके कोई शब्द नहीं कहे। इसके सिवाय भीष्मदेवकी रक्षाके लिये सबको कहकर उन्होंने उनकी प्रतिष्ठा भी बढ़ाई, ऐसा समझकर दुर्योधनके भयनाश तथा उत्साहवृद्धिके लिये भीष्मदेवने सिंहनादपूर्वक शङ्ख बजाया। 'कुरुवृद्ध' शब्दके द्वारा वृद्धत्वके कारण दुर्योधनके चित्तका उनको पता था यही प्रकट होता है। 'पितामह' शब्दके द्वारा दुर्योधनके प्रति उनकी आत्मीयता सूचित होती है, जिससे द्रोणकी तरह उन्होंने उपेक्षा नहीं की थी। प्राचीन कालमें लड़ाईसे पहले उसकी सूचनारूपसे शङ्ख बजानेकी चाल थी, अब उसके स्थानपर ब्यूगल बजते हैं ॥१२॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

अन्वय—ततः (भीष्मदेवके शङ्ख बजानेके अनन्तर) शङ्खाः च भेर्यः च पणवानकगोमुखाः (शङ्ख, भेरी, पणव, आनक,

गोमुख आदि युद्धके सब बाजे) सहसा एव (अकस्मात् एकही साथ) अभ्यहन्यन्त (बजाये गये) सः शब्दः (बाजेका शब्द) तुमुलः (प्रचण्ड) अभवत् (हुआ)।

सरलार्थ—महावीर भीष्मके इस प्रकार उत्साह दिखाने पर कौरवसैन्योंमें भी शङ्ख, भेरी, पणव, आनक तथा गोमुख आदि रणवाद्य एकदम बजने लगे, जिससे प्रचण्ड शब्द हुआ।

चन्द्रिका—जब सेनाओंके नायक भीष्मदेवने ही उत्साह बताया तो सैन्योंके भीतर उत्साह फैलना ही था, इसलिये शङ्ख, बाजे आदि बहुत बजने लगे। किन्तु न तो इन शङ्खोंके विशेष विशेष नाम ही थे और न इनके वाद्योंके प्रचण्ड शब्दसे पाण्डवोंके हृदयमें कोई क्षोभ ही उत्पन्न हुआ। जहां पाप है वहीं भय है और वहीं भगवत् कृपाका अभाव है यह निश्चय है ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ ।
माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

अन्वय—ततः (इसके अनन्तर) श्वेतैः हयैः युक्ते (सफेद घोड़ोंके द्वारा युक्त) महति स्यन्दने स्थितौ (महान् रथ पर बैठे हुए) माधवः पांडवः च एव (कृष्ण और अर्जुनने) दिव्यौ शङ्खौ (अलौकिक शङ्खोंको) प्रदध्मतुः (उच्च ध्वनिसे बजाया)।

सरलार्थ—कौरव सैन्योंके रणवाद्य बजनेके बाद अग्नि-दत्त महान् श्वेताश्वयुक्त रथ पर अवस्थित श्रीकृष्ण तथा अर्जुनने दिव्य शङ्खोंको विपुल शब्दसे बजाया।

चन्द्रिका—पाण्डवोंका शङ्ख बजाना कौरवोंके बाद ही था, क्योंकि

धार्मिक होनेके कारण वे हत्याकाण्डमें स्वभावतः प्रवृत्त होना नहीं चाहते थे। केवल कौरवोंके आह्वान पर प्रत्युत्तररूपसे इनका शङ्खनाद था। भगवान् श्रीकृष्णकी सम्मति तथा आज्ञाके बिना भक्त पाण्डवगण कोई भी काम नहीं करते थे, इस कारण प्रथम श्रीकृष्णके रणस्वीकारसूचक शङ्ख बजानेके बाद ही अर्जुनप्रमुख सब पाण्डवोंने शङ्ख बजाया। श्वेत अश्वयुक्त रथ अग्निदेवसे मिलनेके कारण उस पर बैठनेवाले विजयी होंगे यह सूचित होता है ॥१४॥

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥

अन्वय—हृषीकेशः (श्रीकृष्ण) पाञ्चजन्य (पाञ्चजन्यं नामक शङ्खको) धनञ्जयः (अर्जुन) देवदत्तं (देवदत्त नामक शङ्खको) भीमकर्मा (शत्रुओंके भयजनक कर्म करने वाले) वृकोदरः (भीम) महाशङ्खं पौण्ड्रं (पौण्ड्र नामक महाशङ्खको) कुन्तीपुत्रः राजा युधिष्ठिरः (कुन्तीतनय धर्मराज युधिष्ठिर) अनन्तविजय (अनन्तविजय नामक शङ्खको) नकुलः सहदेवः च (नकुल और सहदेव) सुघोषमणिपुष्पकौ (सुघोष और मणि-

पुष्पक नामक शङ्खको) दध्मौ (प्रत्येकने अपने अपने शङ्खको बजाया)। परमेष्वासः (उत्तम धनुष धारण करनेवाले) काश्यः च (काशीराज भी) महारथः शिखण्डी च (महारथ शिखण्डी भी) धृष्टद्युम्नः विराटः च (धृष्टद्युम्न और विराट भी) अपराजितः सात्यकिः च (अजेय सात्यकि भी) द्रुपदः द्रौपदेयाः च (द्रुपद और द्रौपदीतनयगण भी) महाबाहुः सौभद्रः च (शक्तिवान् भुजावाले अभिमन्यु भी) हे पृथ्वीपते ! (हे धृतराष्ट्र !) सर्वशः पृथक् पृथक् शङ्खान् दध्मुः (सबने अलग अलग शङ्ख बजाये)।

सरलार्थ—श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य नामक शङ्ख, अर्जुनने देवदत्त नामक शङ्ख और भीमकर्मा भीमने पौण्ड्र नामक महाशङ्ख बजाया। कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय नामक, नकुलने सुघोष नामक और सहदेवने मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाया। इसी प्रकार महाधनुर्धर काशीराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजेय सात्यकि, द्रुपद-राजा, द्रौपदीके पुत्रगण और महाबाहु अभिमन्यु, हे राजन् ! इन सभीने पृथक् पृथक् अपना शङ्ख बजाया।

चन्द्रिका—कौरवपक्षमें अपने नामसे प्रसिद्ध एक भी शङ्ख न होने पर भी पाण्डवपक्षमे इतने स्वनाम प्रसिद्ध शङ्ख थे, इससे पाण्डव-पक्षकी उत्कृष्टता सूचित की गई। हृषीक अर्थात् इन्द्रियोंके ईश अर्थात् प्रेरक प्रभु होनेके कारण पाण्डवोंकी भी सहायता उत्तम रूपसे करेंगे—'हृषीकेश' पदके द्वारा यही भाव बताया गया। दिग्विजयमें राजाओंको

जित कर जो धन ला सकते हैं ऐसे 'धनञ्जय' अर्जुन सर्वथा अजेय हैं यही धनञ्जय पदके द्वारा सूचित हुआ। जिसके उदरमें 'वृक' नामक अग्निके रहनेसे पाचनशक्ति अद्भुत है ऐसे भीम बहुत ही बलशाली होंगे 'वृकोदर' शब्दके द्वारा यही कहा गया। कुन्तीकी प्रबल तपस्या द्वारा जो पुत्र युधिष्ठिर धर्मराजसे मिले हैं वे धर्मयुद्धमें स्थिर ही रहेंगे, डिगेंगे नहीं 'कुन्तीपुत्र' और 'युधिष्ठिर' शब्दोके द्वारा यही बताया गया है। बाणासुरके साथ युद्धमें जो पराजित नहीं हुए हैं, ऐसे सात्यकि यहां भी अजेय रहेंगे, 'अपराजित' शब्दके द्वारा यही सूचित हुआ। इस प्रकारसे सञ्जयने धृतराष्ट्रको पाण्डवपक्षीय वीर तथा शङ्खोंकी महिमा सुना दी ॥१५-१८॥

स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीञ्चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन् ॥१९॥

अन्वय—तुमुलः (प्रचण्ड) सः घोषः (पाण्डवोंकी शङ्खध्वनिने) नभः च (आकाशको) पृथिवी च एव (और पृथिवीको) अभ्यनुनादयन् (प्रतिध्वनिके द्वारा पूर्ण करके) धार्त्तराष्ट्राणां (आपके पुत्रगण तथा आपके पक्षवाले सैन्योंके) हृदयानि व्यदारयत् (हृदयको विदीर्ण जैसा कर दिया है।)

सरलार्थ—सञ्जयने धृतराष्ट्रसे कहा—अति प्रचण्ड पाण्डव वीरोंकी शङ्खध्वनिके द्वारा आकाश तथा मेदिनी गूंज उठी और आपके पुत्र तथा सैन्योंके चित्तमें हृदयविदारणतुल्य भय और व्यथा उत्पन्न होगई।

चन्द्रिका—कौरवोंकी शङ्खध्वनिसे पाण्डवोंके चित्तमें कोई भी क्षोभ या भय नहीं हुआ था, बल्कि उन्होंने अपनी अपनी शङ्खध्वनियोंके

द्वारा उसका जवाब ही दे दिया था। किन्तु अधर्मपक्ष होनेके कारण पाण्डवोंके शङ्खनादको सुनते ही कौरवोंके हृदय हिल गये और फट जानेके तुल्य व्यथा तथा भय उत्पन्न होने लगे। यही पाप और पुण्य वलमें भेद है। शङ्खनादकी तीव्रता इसीके द्वारा प्रकट हुई कि उसकी प्रतिध्वनिसे ही आकाशमण्डल तथा भूमण्डल गूञ्जने लग गये थे ॥ १९ ॥

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ! ॥ २० ॥

अन्वय—हे महीपते ! (हे महाराज धृतराष्ट्र !) अथ (भयजनक शङ्खघोषके अनन्तर) कपिध्वजः पाण्डवः (महावीर हनुमान्की मूर्ति जिनकी रथध्वजामें है ऐसे अर्जुनने) धार्त्तराष्ट्रान् (कौरवोंको) व्यवस्थितान् (युद्ध करनेके लिये सुसज्जित) दृष्ट्वा (देखकर) शस्त्रसम्पाते (शस्त्रसमूहके) प्रवृत्त (चलानेकी तैयारी होने पर) धनुः उद्यम्य (अपने गाण्डीवको उठाकर) तदा (उस समय) हृषीकेशं इदं वाक्यं आह (श्रीकृष्णको आगे वर्णित वाक्य कहा)।

सरलार्थ—हे महाराज ! विपुल शङ्खनादसे हृदयमें अति क्षोभ तथा भय होने पर भी जब कपिध्वज अर्जुनने देखा कि कौरवगण युद्धके निमित्त ही उद्यत हुए हैं और शस्त्र चलानेकी तैयारी भी हो गई है, तो उन्होंने भी अपने गाण्डीवमें शरसन्धान करते हुए भगवान् श्रीकृष्णको निम्न लिखित वाक्य कहा।

चन्द्रिका—पाण्डवोंके विपुल शंखनादसे हृदय दहक जाने पर

भी कौरव हटे नहीं, किन्तु लड़नेके लिये ही तैयार खड़े रहे, इससे उनका प्रबल हठ प्रमाणित होता है, यही 'अथ' कहनेका तात्पर्य है। किन्तु उस हठसे अर्जुन दबे नहीं, वीरताके साथ गाण्डीव लेकर अग्रसर ही हुए। जिनकी ध्वजामें महावीर हनुमान हैं, जिनके सारथि विश्वनियन्ता साक्षात् भगवान् हैं, जिनका पक्ष शुद्ध धर्मपक्ष है, उनमें भय कब हो सकता ? यही 'कपिध्वज' कहनेका तात्पर्य है। पाण्डव भगवान्के आज्ञाकारी थे, उनके परामर्श बिना कोई कार्य नहीं करते थे, इसलिये उन्हींसे पहिले पूछा ॥ २० ॥

अ० उ०—सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ! ॥२१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

अन्वय—हे अच्युत ! (हे कृष्ण !) उभयोः सेनयोः मध्ये (दोनों सेनाओंके बीचमें) मे रथं स्थापय (मेरे रथको रक्खो) अहं (मैं) एतान् योद्धुकामान अवस्थितान् (इन सब युद्धकी इच्छासे अवस्थित कौरवोंको) यावत् (जब तक) निरीक्षे (देखूँ) अस्मिन् रणसमुद्यमे (इस युद्धव्यापारमें) कैः सह (किन किनके साथ) मया योद्धव्यम् (मुझे लड़ना होगा) । अत्र युद्धे (इस कुरुक्षेत्रके युद्धमें) दुर्बुद्धेः धार्त्तराष्ट्रस्य (दुष्टबुद्धि दुर्योधनके) प्रियचिकीर्षवः (प्रियकरणेच्छु) ये एते (जो योद्धागण)

समागताः (एकत्रित हुए है) योत्स्यमानान् (युद्ध करनेवाले उनको भी) अवेक्षे (मैं देखूं) ।

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण ! दोनों सेनाओंके बीचमें मेरे रथको रक्खो, मैं युद्धकी इच्छासे अवस्थित इन सबको तब तक देखूँ कि इस युद्धमें मुझे किन किनके साथ युद्ध करना है । और मुझे उन लोगोंको भी देखना है जो दुर्बुद्धि दुर्योधनके प्रिय करनेकी इच्छासे यहां पर लड़ने आये हैं ।

चन्द्रिका—अर्जुन युद्धके केवल मात्र दर्शक नहीं थे, अधिकन्तु गाण्डीव लेकर युद्धके लिये प्रस्तुत ही थे, तथापि उनमें देखनेकी इच्छा इसलिये हुई कि यह युद्ध साधारण शत्रुओंके साथ युद्ध नहीं है । इसमें भाई भाईमें तथा गुरुजन और कुटुम्बजनोंके साथ संग्राम करना है । इस कारण अर्जुन देखना चाहते थे कि किन किनके साथ उन्हें लड़ना होगा । उनके देखनेकी इच्छाका और भी एक कारण यह था कि दुष्टात्मा दुर्योधनको पापमय संग्रामसे निवृत्त न करके, कौन कौन मनुष्य उनकी दुष्टेच्छापूर्तिके लिये कुरुक्षेत्रमें एकत्रित हुए हैं और उनमें भीष्म द्रोण आदि उत्तम कोटिके पुरुष हैं कि नहीं । भगवान्‌को 'अच्युत' नामसे इसलिये पुकारा गया है कि वे अच्युत होनेके कारण स्वयं भी च्युत नहीं होंगे और पाण्डवोंको भी च्युत नहीं होने देंगे । भक्त अर्जुनका जब भक्तवत्सल भगवान् पर इतना अधिकार है कि उनको सैन्योंके बीचमें रथ रखनेके लिये हुकुम भी दे सकते हैं तो ऐसे प्रिय भक्तका कभी नाश या पराजय नहीं हो सकता है यह भी, भाव इन श्लोकोंके द्वारा व्यक्त हुआ है ॥ २१—२३ ॥

सं० उ०—एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ! पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

अन्वय—हे भारत! (हे धृतराष्ट्र!) गुडाकेशेन (अर्जुनके द्वारा) एवं (इस प्रकारसे) उक्तः (कहे जानेपर) हृषीकेशः (श्रीकृष्ण) उभयोः सेनयोः मध्ये (दोनों सेनाओंके बीचमें) भीष्मद्रोणप्रमुखतः (भीष्म द्रोणके सामने) सर्वेषां महीक्षितां च (सब राजाओंके भी सामने) रथोत्तमं (उत्तम अग्निदत्त रथको) स्थापयित्वा (रखकर) हे पार्थ! (हे अर्जुन!) समवेतान् (एकत्रित) एतान् कुरून् पश्य (इन कौरवोंको देखो) इति उवाच (ऐसा बोले)।

सरलार्थ—सञ्जयने कहा—हे महाराज! अर्जुनके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके बीच तथा भीष्म द्रोण और समस्त राजाओंके सम्मुख उत्तम रथको रखकर कहा—'हे पार्थ! एकत्रित हुए इन कौरवोंको देखो'।

चन्द्रिका—अर्जुनके ऐसा कहने पर श्रीभगवान्ने उन्हें कदाचित् युद्धरूपी हिंसाकार्यसे निवृत्त ही न किया हो, धृतराष्ट्रकी ऐसी आशङ्काके निवारणार्थ सञ्जयने रथ रखनेका वृत्तान्त कह दिया और 'भारत' शब्दसे सम्बोधन करके अपने उच्च वंशका भी स्मरण दिलाया कि ऐसे उत्तम वंशके कौरवोंको मित्रद्रोहमें प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। अर्जुनको 'गुडाकेश' अर्थात् गुडाका—निद्रा, प्रमाद, आलस्यके ईश—जीतने

वाले कहनेका यही तात्पर्य है कि प्रमादशून्य होनेके कारण सावधानतासे ही विपक्षियोंको देखेंगे, सावधानतासे ही युद्ध करेंगे और थोड़ा बहुत प्रमाद हो जायगा तो अन्तर्यामी 'हृषीकेश' भगवान् उसको सुधार देंगे। 'पृथा' स्त्रीके सम्बन्धसे 'पार्थ' सम्बोधन द्वारा यही सूचित किया गया कि अभी स्त्रीजातिसुलभ मोह अर्जुनमें आने वाला है, क्योंकि 'हृषीकेश' होनेके कारण अन्तर्यामी भगवान्को यह ज्ञात था॥ २४—२५॥

तत्राऽपश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि॥ २६॥

अन्वय—तत्र (वहां) उभयोः सेनयोः अपि (दोनों पक्षके ही सैन्योंके भीतर) स्थितान् (युद्ध करनेके लिये उपस्थित) पितॄन् (भूरिश्रवादि पितृव्योंको) अथ (तथा) पितामहान् (भीष्म सोमदत्तादि पितामहोंको) आचार्यान् (द्रोण कृपादि आचार्योंको) मातुलान् (शल्य शकुनि आदि मामाओंको) भ्रातॄन् (दुर्योधनादि भाइयोंको) पुत्रान् (लक्ष्मणादि पुत्रोंको) पौत्रान् (लक्ष्मणादिके पुत्रोंको) तथा (तथा) सखीन् (अश्वत्थामा जयद्रथादि सखाओंको) श्वशुरान् सुहृदः च एव (और श्वसुर तथा कृतवर्मादि सुहृदोंको) पार्थः अपश्यत् (अर्जुनने देखा)।

सरलार्थ—वहां पर अर्जुनने दोनों सेनाओंके भीतर अवस्थित भूरिश्रवादि पितृव्यगण, भीष्मादि पितामहगण, द्रोणादि आचार्यगण, शकुनि आदि मातुलगण, दुर्योधनादि भ्रातृगण, लक्ष्मणादि पुत्रगण, पौत्र अर्थात् लक्ष्मणादिके पुत्रगण, अश्व-

त्थामादि मित्रगण, श्वसुरगण, तथा कृतवर्मादि सुहृदगण-सभीको देखा ।

चन्द्रिका—अर्जुनने दोनों पक्षके हां [सैन्योंमें ऐसे पूजनीय तथा स्नेहप्रेमपात्र आत्मीयजनोंको देखा जिनके साथ 'पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनर्निशितैः शरैः' अर्थात् फूलरूपी अस्त्रसे भी नहीं लड़ना चाहिये, बाणकी बात ही क्या है ॥ २६ ॥

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ।
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

अन्वय—सः कौन्तेयः (अर्जुन) अवस्थितान् (ठहरे हुए) तान् सर्वान् बन्धून् (उन सब आत्मीय जनोंको) समीक्ष्य (देखकर) परया कृपया (अत्यन्त करुणाके द्वारा) आविष्टः (अभिभूत होकर) विषीदन् (दुःखितचित्तसे) इदं अब्रवीत् (यह बोले) ।

सरलार्थ—अपने आत्मीय जनोंको युद्धक्षेत्रमें उपस्थित देखकर अतिशय करुणासे अर्जुनका चित्त भर गया और विषादग्रस्त होकर अर्जुन कहने लगे ।

चन्द्रिका—मेरे ये सब आत्मीय तथा पूजनीय जन हैं, इनके वधरूपी हिंसाकार्य कैसे किया जासकता है, इस प्रकार ममताजन्य जो चित्तका भाव है वही यहां पर 'कृपा' कहा गया है । यह कृपा कोमलवृत्ति होने पर भी क्षत्रियजनोचित नहीं है, स्त्रियोंके लायक है, इस कारण 'कौन्तेय' शब्दका प्रयोग हुआ है । अर्थात् यह पिताके पुत्रका कार्य नहीं हुआ किन्तु कुन्तीपुत्र अर्थात् माताके पुत्रका ही कार्य हुआ है ॥२७॥

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेमान् स्वजनान् कृष्ण ! युयुत्सून् समवस्थितान् ।
सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥ २८ ॥

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ॥२९॥

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ! ॥३०॥

अन्वय—हे कृष्ण ! (हे कृष्ण !) समवस्थितान् (युद्धक्षेत्रमें अवस्थित) इमान् युयुत्सून् स्वजनान् (इन सब युद्ध करनेके इच्छुक आत्मीयोंको) दृष्ट्वा (देख कर) मम गात्राणि (मेरे शरीरके अङ्ग) सीदन्ति (अवसन्न हो रहे हैं) मुखं च परिशुष्यति (और मुह सूख रहा है)। मे शरीरे (मेरे शरीरमें) वेपथुः च (कम्प) रोमहर्षः च (और रोमाञ्चन) जायते (हो रहा है), हस्तात् (हाथसे) गाण्डीवं (गाण्डीव धनुष) स्रंसते (ढीला होकर जमीनमें गिर रहा है) त्वक् च एव (त्वचा भी) परिदह्यते (जल रहा है)। हे केशव ! (हे केशव !) अवस्थातुं (ठहर) न च शक्नोमि (मैं नहीं सकता) मे मनः च (मेरा मन भी) भ्रमति इव (घूमता रहा है) विपरीतानि निमित्तानि च (वामनेत्र स्फुरण आदि विपरीत निमित्त समूह भी) पश्यामि (देख रहा हूं)

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण ! युद्धकी इच्छासे

समुपस्थित इन आत्मीयोंको देख कर मेरे सब अङ्ग अवसन्न हो रहे हैं, मुख सूखता है, शरीरमें कम्प तथा रोमाञ्चन हो रहा है, हाथसे गाण्डीव गिरा जा रहा है और शरीरमें जलन होने लगा है। हे केशव! मुझसे स्थिर नहीं रहा जाता है, मेरा मन मानो घूम रहा है, और वामनेत्र नाचना आदि अपशकुनोंको देख रहा हूं।

चन्द्रिका—ममताके कारण बन्धुवधसे घबड़ाये हुए अर्जुनके घबड़ानेकी अवस्था इन श्लोकोंमें बताई गई है। शरीरका अवसन्न होना, मुख सूखना, कम्प, रोमाञ्चन, शरीरमें जलनरूपी भीतरी सन्ताप, मन घूमनारूप मूर्छाकी पूर्वावस्था ये सब चित्तके प्रबल विकारके सूचक हैं। इसी विकारमें उसके अनुकूल वामनेत्र नाचना आदि अपशकुन भी होने लगे, जिनको उन्होंने भावी अशुभका सूचक समझा। ये सब शकुन उनके युद्धमें पराजित होने आदिके सूचक नहीं थे, किन्तु उनके व्यामोहके ही सूचक थे। उनमें आस्तिकताके कारण उन्होंने अपने चित्तके अनुसार इन शकुनोंको ऐसे ही भावमें देखना प्रारम्भ किया और भगवान्‌को 'कृष्ण' तथा 'केशव' शब्दोंसे सम्बोधन कर यही मनोभाव बताया कि 'तुम कृष्ण हो' भक्तोंके सब दुःखोंको आकर्षण करते हो, मेरे दुःखको भी आकर्षण करके नष्ट कर दो, तुम केशि आदि दैत्य निधनके कारण केशव कहलाते हो, मेरे हृदयके भी शोकरूपी दैत्यका संहार करो। इसके अनन्तर अर्जुनने अपना मनोभाव कहना प्रारम्भ किया ॥ २८-३० ॥

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण! न च राज्यं सुखानि च ॥३१॥

किं नो राज्येन गोविन्द ! किं भोगैर्जीवितेन वा।
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ॥३२॥
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ॥३३॥
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ! ॥३४॥
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते।
निहत्य धार्त्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ! ॥३५॥

अन्वय—हे कृष्ण ! (हे कृष्ण !) आहवे (युद्धमें) स्वजनं हत्वा (आत्मीयजनको मारकर) श्रेयः च (कोई मङ्गल) न अनुपश्यामि (मैं नहीं देख रहा हूं) विजयं (युद्धमें जयलाभ) न कांक्षे (मैं नहीं चाहता) राज्यं च (राज्य भी) सुखानि च (और सुख भी) न (नहीं चाहता) हे गोविन्द ! (हे कृष्ण !) येषां अर्थे (जिनके लिये) नः (हमारे) राज्यं भोगाः सुखानि च (राज्य, भोग और सुखसमूह) कांक्षितं (चाहे हुए हैं) ते इमे (वे ही सब) आचार्याः पितरः पुत्राः (आचार्य्य, पितृव्य, पुत्रगण) तथा एव च (ऐसे ही और) पितामहाः मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः तथा सम्बन्धिनः (पितामह, मातुल, श्वसुर, पौत्र, श्यालक और कुटुम्बगण) प्राणान् धनानि च त्यक्त्वा (प्राण और धनकी आशाको परित्याग करके) युद्धे अवस्थिताः (युद्ध करनेको उपस्थित हैं) नः (अतः हमें) राज्येन किं (राज्यसे क्या प्रयोजन है ?) भोगैः जीवितेन वा किं (भोगसे और

जीवनधारणसे भी क्या प्रयोजन है ?) हे मधुसूदन ! (हे मधुसूदन !) घ्नतः अपि एतान् (हमें विनाश करने पर भी इनको) त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः अपि (त्रिलोकीके राज्यके लिये भी) हन्तुं न इच्छामि (मैं मारना नहीं चाहता), महीकृते किं नु (केवल पृथिवीलाभके लिये कौनसी बात है ?) हे जनार्दन ! (हे जनार्दन !) धार्त्तराष्ट्रान् निहत्य (धृतराष्ट्रपुत्रोंको मारकर) नः (हमें) का प्रीतिःस्यात् (क्या सन्तोष होगा ?) ।

सरलार्थ—हे कृष्ण ! युद्धमें आत्मीयोंको वध करके मैं कोई मङ्गल नहीं देखता हूं । मैं न विजय, न राज्य और न सुखको चाहता हूँ । हे गोविन्द ! जिन लोगोंके लिये हम राज्यभोग और सुख चाहते हैं वे ही ये आचार्य, पितृव्य, पुत्र तथा पितामह, मामा, श्वसुर, पौत्र, साले और सम्बन्धिगण प्राण तथा धनकी आशा छोड़ युद्धमें आये हुए हैं, अतः हमें राज्यभोग तथा जीवनसे क्या प्रयोजन है ? हे मधुसूदन ! यद्यपि हमको वे मारें तथापि मैं इनको इस पृथिवीके लिये क्या, त्रिलोकीके राज्यके लिये भी मारना नहीं चाहता हूं। हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रतनय दुर्योधन आदिको विनष्ट करके हमें क्या सन्तोष होगा ? अर्थात् कुछ भी सन्तोष नहीं होगा ।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंके द्वारा क्षात्रधर्मविरुद्ध मोहजनित अर्जुनका मनोभाव व्यक्त हुआ है । वे कहते हैं कि, बन्धुवधसे दृष्ट अदृष्ट कोई भी लाभ नहीं है क्योंकि आत्मीयोंको मार कर राजभोग आदि दृष्टसुख कुछ भी अच्छा नहीं लगेगा और स्वर्गादि अदृष्ट सुख तो शत्रुओंके साथ संग्राममें प्राण दे देनेसे होता है, उनके मार देनेसे नहीं, फिर आत्मीयोंको मारनेसे

तो कुछ भी अदृष्टसुख नहीं हो सकता है। जिनको लेकर राज्यभोगका आनन्द लेना है वे ही जब सब मर गये, तो सुख भोगेंगे किसको लेकर। अतः इस लोकको छोड़ कर त्रिलोकके लिये भी नहीं लड़ना चाहिये और चाहे वे उन्हें मार देवें, वे कभी आत्मीय वध नहीं करेंगे, यही अर्जुनका मनोभाव है। 'मधुसूदन' और 'जनार्दन' सम्बोधनोंका यह तात्पर्य है कि मधुकैटभ नामक दैत्योंको मार कर तुमने वेदको बचाया है इसलिये मुझे अवैदिक कार्यमें प्रवृत्त न करो, तुम्हारा जनार्दन नाम प्रलयकालमें जनोंके मारनेके कारण ही पड़ा है इसलिये कौरवोंको मारना हो तो तुम ही मार लो, तुम्हें पाप नहीं लगेगा, मुझे बन्धुवधरूप पापकार्यमें प्रवृत्त न करो ॥ ३१-३५ ॥

पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्त्तराष्ट्रान् सबांधवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३६॥

अन्वय—आततायिनः एतान् (इन आततायी अर्थात् शत्रुओंका) हत्वा (मारकर) अस्मान् (हम लोगोंको) पापं एव (पाप ही) आश्रयेत् (लगेगा) तस्मात् (इसलिये सबान्धवान् (सकुटुम्ब) धार्त्तराष्ट्रान् (दुर्योधनादिको) वयं हन्तुं न अर्हाः (हमें मारना उचित नहीं है)। हे माधव ! (हे कृष्ण !) हि (क्योंकि) स्वजनं (आत्मीय जनको) हत्वा मारकर) कथं (कैसे) सुखिनः स्याम (हम सुखी हो सकते हैं ?)।

सरलार्थ—दुर्योधन आदि आततायी होने पर भी इनके मारनेसे हमें पाप ही लगेगा। इसलिये सकुटुम्ब इनका नाश

करना हमको उचित नहीं है। हे माधव! आत्मीय जनोंका वध करके हम कैसे सुखी हो सकते हैं?

चन्द्रिका—शास्त्रमें आततायीके विषयमें कहा गया है। यथा—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः॥
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाऽविचारयन्।
नाऽऽततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥

घरमें आग लगानेवाला, विष देनेवाला, शस्त्र हाथमें लेकर मारनेको आनेवाला, धनहरण करनेवाला, भूमिहरण करनेवाला और स्त्रीहरण करनेवाला ये छः प्रकारके आततायी होते हैं। ऐसे आततायीको विना विचारे ही मार देना चाहिये, इससे मारनेवालेको कोई भी पाप नहीं लगता। कौरवोंमें आततायीके ये छः ही लक्षण मिलते हैं। इन लोगोंने जतुगृहमें अग्नि लगाई थी, भीमको विष दिया था, अस्त्र लेकर लड़ने आये ही हैं, धन तथा भूमिका हरण कर ही लिया है और द्रौपदीके वस्त्रहरण आदि द्वारा स्त्रीहरणकारी भी हैं। इस दशामें आर्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार इनके मार देनेमें कोई पाप नहीं हो सकता। किन्तु अर्जुनने 'स एव पापिष्ठतमो यः कुर्यात् कुलनाशनम्' कुलनाशकारी पापी होता है, इत्यादि धर्मशास्त्रके विचारसे यहां कहा कि ये सब आत्मीय जन हैं, इसलिये आततायी होनेपर भी, इनके मारनेमें पाप स्पर्श करेगा और बन्धुवध द्वारा कोई भी सुखलाभ न होगा। 'माधव' सम्बोधनका यही तात्पर्य है कि तुम 'मा' अर्थात् लक्ष्मीके 'धव' अर्थात् पति हो, अतः मुझे इस प्रकार लक्ष्मीहीन, श्रीहीन आत्मीय वधरूप पापकार्यमें प्रवृत्त न करो॥३६॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३७॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्त्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन!॥ ३८॥

अन्वय—यद्यपि (यदिच) लोभोपहतचेतसः (राज्यलोभसे भ्रष्टबुद्धि) एते (ये सब कौरवगण) कुलक्षयकृतं दोषं (वंशनाशसे उत्पन्न दोष) मित्रद्रोहे च पातकं (और आत्मीयवधसे उत्पन्न पापको) न पश्यन्ति (नहीं देखते हैं), हे जनार्दन! (हे कृष्ण!) कुलक्षयकृतं दोषं (कुलक्षयसे उत्पन्न दोषको) प्रपश्यद्भिः अस्माभिः (देखनेवाले हम लोगोंके द्वारा) अस्मात् पापात् (इस पापसे) निवर्त्तितुं (निवृत्त होनेके लिये) कथं न ज्ञेयम् (क्यों नहीं ये सब पाप जानने योग्य हैं।

सरलार्थ—राज्यलोभसे भ्रष्टचित्त होकर यद्यपि कौरवगण कुलक्षयसे क्या क्या दोष होता है और कुटुम्बनाशसे क्या क्या पाप होता है ये सब नहीं देख रहे हैं, तथापि, हे जनार्दन! हम जब इन दोषोंको देख रहे हैं, तब इस पापसे निवृत्त होनेके लिये हम क्यों न इस बातको समझें?।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें अर्जुनके कुटुम्बवधसे निवृत्त होनेका कारण और भी विशदरूपसे कहा गया है। यद्यपि क्षत्रियका यह धर्म है कि बुलाये जानेपर रणमें अवश्य जावे तथापि इस रणमें कुटुम्ब-नाश द्वारा वंशनाश होगा, जिससे अनेक भावी दोषोंकी उत्पत्ति होगी इसलिये ऐसा पापकर्म कदापि नहीं करना चाहिये, यही अर्जुनकी सम्मति

है। दूसरे पक्षके लोग राज्यलोभसे विवेकहीन हो गये हैं, इस कारण ये सब दोष तथा पाप उन्हें नहीं दीख रहे हैं। किन्तु अर्जुनको जब दोष दीखता है, तो उनके लिये ऐसा पाप करना कर्त्तव्य नहीं है। यही अर्जुनके कथनका आशय है ॥ ३७-३८ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥३९॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण ! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय ! जायते वर्णसंकरः ॥४०॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४१॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४२॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ! ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४३॥

अन्वय—कुलक्षये (कुलका क्षय होनेपर) सनातनाः (सदाके चले हुए) कुलधर्माः (परम्पराप्राप्त कुलके धर्मसमूह) प्रणश्यन्ति (करनेवालेके अभावसे नष्ट हो जाते हैं) धर्मे नष्टे (धर्मके नष्ट होनेपर) अधर्मः (पाप) कृत्स्नं उत (समस्त ही) कुलं (कुलको) अभिभवति (ग्रास कर लेता है) हे कृष्ण ! (हे कृष्ण !) अधर्माभिभवात् (अधर्मके द्वारा कुलके ग्रस्त होने पर) कुलस्त्रियः (कुलकी स्त्रियां) प्रदुष्यन्ति (बिगड़ जाती हैं)। हे

वार्ष्णेय ! (हे यदुवंशोद्भव कृष्ण !) स्त्रीषु दुष्टासु (स्त्रियोंके बिगड़ जाने पर) वर्णसकरः जायते (वर्णसंकर प्रजा उत्पन्न होती है)। कुलस्य संकरः (कुलमें उत्पन्न सङ्करप्रजा)कुलघ्नानां (कुलनाशकोंके) नरकाय एव भवति (नरकका कारण बन जाती है) एषां पितरः हि (कुलनाशकोंके पितर भी) लुप्तपिण्डोदक-क्रियाः (श्राद्ध तर्पण क्रियाके लोपसे) पतन्ति (पतित हो जाते हैं)। कुलघ्नानां (कुलनाशकोंके)वर्णसंकरकारकैः (वर्णसंकर उत्पन्न करनेवाले) एतैः दोषैः (इन दोषोंसे) जातिधर्माः (क्षत्रियादि जातिके धर्म) कुलधर्माः च (और कुलके भी धर्म) उत्साद्यन्ते (नष्ट हो जाते हैं)। हे जनार्दन ! (हे जनार्दन !) उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां (जिनके कुलधर्म नष्ट होगये हैं ऐसे मनुष्योंका) नियतं (सदाके लिये) नरके (नरकमें) वासः भवति (निवास होता है) इति अनुशुश्रुमः (ऐसा आचार्य परम्परासे हमने सुना है)।

सरलार्थ—कुलका क्षय होने पर करनेवालेके अभावसे परम्परा प्राप्त अग्निहोत्रादि कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्मके नाशसे अधर्मके द्वारा अवशिष्ट समस्त कुल ग्रस्त हो जाता है। अधर्मकी इस प्रकार प्रबलता होने पर रक्षाके अभावसे कुलस्त्रियोंका चरित्रदोष हो जाता है, जिस कारण व्यभिचारादि द्वारा कुलमें वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न होती है। कुलमें इस प्रकार सङ्करदोष कुलनाशकोंके नरकका कारण बन जाता है और उनके पितर भी श्राद्ध तर्पणादिके अभावसे

पतित हो जाते हैं। इस प्रकारसे कुलघातकोंके वर्णसङ्कर-कारी दोषोंके द्वारा परम्पराप्राप्त जातिधर्म और कुलधर्म लुप्त हो जाते हैं। हे जनार्दन! लुप्तकुलधर्मी मनुष्योंका अनन्तकाल नरकवास होता है, आचार्योंके मुखसे हमने यही सुना है।

चन्द्रिका—दैवी सम्पत्तिसे युक्त होनेके कारण इस प्रमादके समय भी अर्जुनको शास्त्र ही सूझता है और वे अपनी मोहग्रस्त बुद्धिके अनुसार अपने ही ढङ्गपर शास्त्रका उपयोग कर रहे हैं। उनकी यह युक्ति है कि आत्मीयजनोंको मार डालनेसे कुलमें परम्परागत धर्मानुष्ठान करनेवाला कोई नहीं रहेगा, जिससे कुलमें धर्मनाश तथा अधर्मका उदय होगा। और अधर्म बढ़ जानेपर स्त्रियोंमें व्यभिचार फैल जायगा, जिससे वर्णसंकर प्रजा उत्पन्न होगी। तीन गुणके परिणामसे ४ वर्णकी उत्पत्ति स्वाभाविक है। जीव प्रथमतः तमोगुणप्रधान शूद्रवर्णमें उत्पन्न होता है, तदनन्तर क्रमोन्नतिको पाकर रजस्तमःप्रधान वैश्यवर्ण, रजः सत्त्वप्रधान क्षत्रियवर्ण और अन्तमें सत्वगुणप्रधान ब्राह्मणवर्णमें उसकी उत्पत्ति होती है। प्रकृतिकी त्रिगुणमयी सारीशक्ति इन चार धाराओंमें बटी हुई है, इसलिये इन्हींको प्रकृति अपनी शक्ति द्वारा उन्नत करती करती परमात्मा तक पहुंचा सकती है। इसके बीचमें सङ्करता द्वारा कोई विषमधारा बने तो उसको आगे चलानेके लिये प्रकृतिके पास शक्ति ही नहीं है। इसी कारण वर्णसंकर पशु या वर्णसंकर मनुष्यादिकी शाखा नहीं चलती है। घोड़े या गधेका वंशनाश कभी नहीं होता है। किन्तु दोनोंके सम्बन्धसे उत्पन्न वर्णसंकर अश्वतर या खच्चर जातिका वंश कभी नहीं चलता। अतः वर्णसंकरी सृष्टिका न चलना प्राकृतिक

है। इसी कारण अर्जुनको वर्णसङ्करसे इतना भय है जैसा कि मनुजीने भी कहा है—

यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति॥

जहां वर्णदूषक वर्णसङ्कर उत्पन्न होता है, वहांपर राष्ट्रवालोंके साथ राष्ट्रका शीघ्र ही नाश हो जाता है। अतः स्त्रियोंके दोषसे वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न होनेपर कुलनाश जातिनाश शीघ्र ही होगा और इसी पापसे कुलहन्ताको घोर नरकमें जाना पड़ेगा, यही अर्जुनका कथन है। द्वितीयतः पितरोंका भी इसमें विशेष अकल्याण है। इस लोकसे गये हुए हमारे पूर्वज पितर कहलाते हैं। इनमेंसे कर्मानुसार किसीको प्रेतत्वलाभ भी होता है और कोई कोई पितृलोकको भी जाते हैं। प्रेतलोक, पितृलोक ये सब भूर्लोकके अन्तर्गत ही सूक्ष्मलोक है। श्राद्धतर्पणमें श्राद्धकर्त्ता अपनी सङ्कल्पशक्ति, मन्त्रशक्ति तथा द्रव्यशक्ति अर्थात् श्राद्धमें समर्पित द्रव्योंकी शक्ति द्वारा पितरोंको सहायता करते हैं। जिससे शक्तिसंयोग द्वारा प्रेतत्वनाश अथवा पितृलोकवासी पितरोकी तृप्ति और उन्नति होती है। यही श्राद्धतर्पणका संक्षेप सूक्ष्मविज्ञान है। शक्तिका प्रयोग समभूमिमें ठीक ठीक होता है,विषम भूमिमें नहीं हो सकता है। इसी कारण सन्तानका ही श्राद्धमें प्रथम अधिकार है। क्योंकि पिता माताका आत्मज होनेके कारण पिता माताके साथ सन्तानके आत्माकी समभूमि रहती है। यदि पिता और माता दोनों एक ही वर्णके होंगे तो वर्णकी समतासे शक्तिकी समता होगी और उनके संयोगसे उत्पन्न सन्तानके साथ भी शक्तिकी समभूमि रहेगी। इस कारण ऐसी सन्तानके द्वारा अनुष्ठित श्राद्ध तर्पणसे पितरोंको कल्याण

प्राप्त होगा। उसके द्वारा प्रयुक्त सङ्कल्पशक्ति, मन्त्रशक्ति तथा द्रव्य-शक्तिका प्रभाव उनपर ठीक ठीक होगा। किन्तु यदि पिता माताके वर्ण भिन्न भिन्न प्रकार होंगे तो वर्णभिन्नताके कारण शक्तिकी समता नहीं रहेगी और इसलिये उनके शक्ति संयोगसे जो सन्तान होगी उसका मेल न पितृशक्तिसे ही होगा और न मातृशक्तिसे ही होगा, क्योंकि दोनों विषम-शक्तिके संघर्षसे उत्पन्न वस्तुकी शक्ति दोनोंमेंसे किसीसे भी मेल ना खायेगी, वह एक तीसरी ही शक्ति होगी। अतः ऐसी सन्तानके द्वारा अनुष्ठित श्राद्ध तर्पणसे पितरोंको कुछ भी लाभ नहीं होगा। इसलिये एक ओर तो वंशनाशके कारण श्राद्धकर्त्ताके अभावसे ही पितरोंका पतन होगा और दूसरी ओर वर्णसङ्कर प्रजाके द्वारा कृत श्राद्धतर्पण उनको न प्राप्त होनेसे उनका पतन होगा। यही अर्जुनके पितरोंके पतन विषयमें दुःख करनेका कारण था। इस प्रकारसे वर्णसङ्कर सृष्टि द्वारा समस्त वर्ण धर्म तथा परम्पराप्राप्त कुलधर्मका उच्छेद होता है और जिनके कुलमें ऐसा होता है वे अनन्तकाल तक नरकमें दुःख भोगते हैं। ये ही सब आत्मीय वधके भीषण परिणाम सोचकर अर्जुन बहुत ही व्याकुल हो गये ॥ ३९-४३ ॥

अहो बत ! महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४४ ॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४५ ॥

अन्वय—अहो बत (अहो, महान् कष्ट है) वयं (हम सब) महत्पापं कर्त्तुं (महापाप करनेको) व्यवसिताः (उद्यत हुए हैं)

यत् (जो कि) राज्यसुखलोभेन (राज्यसुखके लोभसे) स्वजनं (आत्मीय जनको) हन्तुं उद्यताः (मारने प्रस्तुत हुए हैं) । यदि (यदि) अप्रतीकारं (प्राणरक्षाका उपाय न करते हुए) अशस्त्रं (और शस्त्र धारण न करते हुए) मां (मुझको) शस्त्रपाणयः (हाथमें शस्त्र लेकर) धार्त्तराष्ट्राः (दुर्योधनादि) रणे (युद्धमें) हन्युः (मार दे) तत् मे (वह मेरे लिये) क्षेमतरं भवेत् (अधिक मङ्गलकर होगा) ।

सरलार्थ—अहो ! कैसे महापाप करनेको हम तैयार हुए हैं कि सामान्य राज्यसुखके लोभसे भीषण अनर्थकर आत्मीय वधमें प्रवृत्त हो रहे हैं। इसलिये इस युद्धमें यदि मैं आत्म-रक्षाके लिये कोई भी उपाय न करूं तथा शस्त्रधारण भी न करूं और कौरवगण शस्त्रप्रहारसे मेरा प्राणवध कर डालें तो वही मेरे लिये अधिक मङ्गलजनक होगा ।

चन्द्रिका—कुलनाश और उसके कुपरिणामकी आशङ्कासे अर्जुन विह्वल हो गये हैं और क्षत्रिय धर्मको एकबारगी ही भूल कर यहां तक सोचने लगे हैं कि इस महापापका प्राणान्त ही प्रायश्चित्त है । तमोगुणको सत्वगुण समझकर भूला हुआ मनुष्य जब मोहमें फंसता है, तब यही दशा होती है ॥ ४४–४५ ॥

सं० उ०—एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४६ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ।

अन्वय—अर्जुनः (अर्जुन) एवं उक्त्वा (ऐसा कहकर) संख्ये (युद्धमें) सशरं चापं (बाणसहित गाण्डीव धनुषको) विसृज्य (फेंक करके) शोकसंविग्नमानसः (शोकसे व्यथित चित्त हो) रथोपस्थे (रथके ऊपर) उपाविशत् (बैठ गया)।

सरलार्थ—संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—श्रीकृष्णको इस प्रकारसे कहकर अर्जुनने धनुषबाण फेंक दिया और शोकसे अत्यन्त व्याकुलचित्त हो युद्धक्षेत्रमें रथपर बैठ गये।

चन्द्रिका—प्रमाद तथा तमोगुणकी अधिकतासे मनुष्यमें जड़ता और निश्चेष्टता आ जाती है, यही दशा अपने धर्मको भूलकर अर्जुनकी हुई है ॥ ४६ ॥

इस प्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुन सम्वादका अर्जुन विषादयोग नामक पहिला अध्याय समाप्त हुआ।



प्रथम अध्याय समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः ।



सं० उ०—तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

अन्वय—मधुसूदनः (श्रीकृष्ण) तथा (उस प्रकारसे) कृपया (कृपाके द्वारा) आविष्टं (अधिष्ठित) अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं (अश्रुके द्वारा पूर्ण तथा व्याकुल नेत्र) विषीदन्तं (शोक करते हुए) तं (अर्जुनको) इदं वाक्यं (आगे कहे हुए वाक्य) उवाच (बोले) ।

सरलार्थ—सञ्जयने धृतराष्ट्रसे कहा—उस प्रकारसे अकस्मात् अर्जुनको कृपाके द्वारा आविष्ट अश्रुभरे व्याकुलनेत्र तथा खेदग्रस्त देखकर श्रीकृष्णने उन्हें आगे वर्णित वाक्य कहा ।

चन्द्रिका—जैसा कि धृतराष्ट्रको अनुमान था कि धर्मभूमिमें आकर पाण्डवगण युद्ध करना ही छोड़ देंगे और उनके पुत्रोंको बिना युद्ध ही निष्कण्टक राज्य मिल जायगा, ऐसा अनुमान कुछ सत्यसा हो रहा है, इसलिये दुराशाग्रस्त अन्धराजकी बुद्धि ठिकानेपर लानेके लिये सञ्जयने आगेकी घटना कहना प्रारम्भ किया । धर्मभूमिका प्रभाव अर्जुन-पर होनेपर भी उन्हें अपना धर्म न सूझकर साधुका धर्म सूझा । क्योंकि शत्रुकी शत्रुता तथा पापीके पापकर्मको जानते हुए भी उनके प्रति उपेक्षा बताना साधुका धर्म है, क्षत्रियका नहीं । इसलिये अर्जुनका यह जातिधर्म-

विरुद्ध कृपा तथा अहिंसाभाव प्रमाद कोटिका विषय समझा गया जिसको श्रीभगवान्‌ने उपदेश द्वारा दूर कर दिया । अर्जुनकी यह कृपा उनकी स्वाभाविक वृत्ति नहीं थी, यह केवल एक व्यामोहजन्य स्नेहविशेष तथा चित्तकी सामयिक दुर्बलता मात्र थी, इसलिये श्लोकमें उन्हें कृपाके द्वारा आविष्ट कहा गया है । मानो जिस प्रकार भूत प्रेत पिशाचका मनुष्य पर आवेश होता है, ऐसा ही उन पर स्वधर्म विरुद्ध मोहरूपी कृपाका आवेश होगया था । श्रीभगवानको 'मधुसूदन' शब्दसे सम्बोधित करनेका यही तात्पर्य है कि मधुकैटभ नामक दैत्योंको मार कर जिनने वेदकी रक्षा की थी, वे अर्जुनके भीतर इस प्रकार प्रमाद नहीं रहने देंगे, किन्तु उपदेशद्वारा उनकी बुद्धिको ठीक करके उन्हें निमित्त बना असुरनिधन अवश्य ही करावेंगे, अतः धृतराष्ट्रकी विजयाशा दुराशामात्र है ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ! ॥ २ ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

अन्वय—हे अर्जुन ! (हे अर्जुन !) विषमे (ऐसे सङ्कटके समय) कुतः (कैसे) इदं (यह) अनार्यजुष्टं (आर्यजनके असेवनीय) अस्वर्ग्यं (स्वर्गलाभके विरोधी) अकीर्तिकरं (अपयशकारी) कश्मलं (मोह) त्वा (तुम्हें) समुपस्थितम् (प्राप्त हो गया) ? हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) क्लैब्यं (क्लीवकी तरह कापुरुषता) मास्म गमः (नहीं प्राप्त करो), एतत् (यह) त्वयि (तुम्हारे

जैसे वीरपुरुषमें) न उपपद्यते (नहीं शोभा देता है), हे परन्तप ! (हे शत्रुतापन अर्जुन !) क्षुद्रं (तुच्छ) हृदयदौर्बल्यं (हृदयकी दुर्बलताको) त्यक्त्वा (त्याग करके) उत्तिष्ठ (उठो, युद्धके लिये तैयार होजाओ) ।

सरलार्थ—श्रीभगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन ! ऐसे सङ्कटके समय तुम्हें कैसे इस प्रकार मोह उत्पन्न हो गया जो कि न आर्यजनके द्वारा सेवनीय ही है, न स्वर्गप्रद ही है तथा इहलोकमें भी यशका नाशक है ? हे पार्थ ! तुम्हें इस प्रकार कापुरुषता (नामर्दी) को नहीं प्राप्त करना चाहिये, तुम्हारे जैसे वीरको यह शोभा नहीं देता, हे शत्रुतापन अर्जुन ! क्षुद्र हृदय दुर्बलताको छोड़ कर संग्रामके लिये प्रस्तुत हो जाओ ।

चन्द्रिका—समय वास्तवमें वह बहुत ही सङ्कटमय था, क्योंकि दोनों ओरके सैन्य युद्ध करनेके लिये तैयार खड़े हैं, अस्त्रशस्त्र हाथमें उठा चुके हैं, रणशङ्ख सब बज चुके हैं, इतनेमे दोनों सैन्योंके बीचमें आकर अर्जुन कहता है 'मैं नहीं लड़ता', इससे अधिक सङ्कट और क्या हो सकता है ? इसलिये इस समयकी ज्ञानहीन, स्वधर्महीन दया दया नहीं है किन्तु मोह है, जिसको श्रीभगवान्‌ने 'कश्मल' कहा है । यह मोह आर्यजनके द्वारा सेव्य नहीं है । शास्त्रमें आर्यका लक्षण यह कहा गया है—

कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्राकृताचारे स तु आर्य इति स्मृतः ॥

जो अपने वर्णाश्रमोचित कर्त्तव्यको पूरा करे, अकर्त्तव्यसे बचा रहे

और सदाचारपरायण हो वही आर्य है । अर्जुनका वर्णाश्रमोचित कर्त्तव्य क्या था ? क्षत्रियका यही कर्त्तव्य होता है कि जो उसका आततायी हो, अधर्मसे उसका धन राज्य आदि अपहरण करता हो, पापका विस्तार तथा प्रजाका पीड़न करता हो उसे मारकर धर्मराजका स्थापन करे और अपने अपहृत राज्यका उद्धार करे। उस समय यदि क्षत्रियवीर यह विचारने बैठे कि शत्रुओंके तथा पापियोंके मारनेसे उनकी स्त्रियां विधवा हो जायंगी और वर्णसङ्कर हो जायगा तो क्षत्रिय अपना धर्मपालन कदापि नहीं कर सकता । यदि रावणवधके समय भगवान् रामचन्द्र ऐसे ही विचार करते तो पापी रावणका कदापि नाश न होता और न संसारमें धर्मकी ही रक्षा होती । अतः यह विचार दया या धर्ममूलक नहीं है, किन्तु प्रमाद, अज्ञान तथा मोहमूलक है । इसके सिवाय इसमें और एक महान् कर्तव्यकी भी हानि होती है । द्वापरयुगके अन्तमें संसार असुरोंके गुरुभारसे भाराक्रान्त हो गया था, पृथिवी माताने रो रो कर ब्रह्मादि देवताओंसे प्रार्थना की थी, इसीके फलरूपसे नर और नारायण भगवत् कला लेकर अर्जुन तथा कृष्णरूपमें भूभार हरणार्थ अवतीर्ण हुए थे । इस कारण पूर्वसम्बन्धसे भी भूभारहरण कार्यमें सहायता करनेके लिये युद्ध करना 'आर्य' अर्जुनका परम कर्त्तव्य था । अतः उनका यह मोह आर्यजनोचित नहीं था और मोक्षका विरोधी था । द्वितीयतः यह मोह स्वर्गका भी विरोधी था । क्योंकि सम्मुख संग्राममें मुख न मोड़कर मरना मारना ही क्षत्रियवीरके लिये स्वर्गप्रद होता है । उसके विरुद्धकार्य सर्वनाशक होता है । अतः संग्राम न करना स्वर्ग विरोधी था । और इस लोकमें इसके द्वारा अपयशकी पराकाष्ठा तो हो ही जाती, सब लोग अर्जुनको महाभीरु तथा कापुरुष कहकर निन्दा करते ।

अतः मोक्ष, स्वर्ग तथा यशोनाशक होनेके कारण अर्थात् इसमें आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक कोई भी कल्याण सम्भावना न रहनेके कारण अर्जुनका यह 'मोह' सर्वथा 'हेय' है। इसी कारण श्रीभगवान् कहते हैं हे अर्जुन! तुम इस नामर्दीको छोड़ो, क्योंकि तुम 'पार्थ' हो, कुन्तीने अनेक तपस्याके द्वारा तुम्हें पाया है। तुम्हें यह कापुरुषता योग्य नहीं है क्योंकि साक्षात् महेश्वरसे भी लड़कर तुमने पाशुपत अस्त्र पाया है और तुम शत्रुको ताप देनेवाले 'परन्तप' हो, अतः हृदयकी इस छोटी सी 'कमजोरी' को छोड़ धराभारहारी धर्मयुद्धमें प्रवृत्त हो जाओ ॥२-३॥

अ० उ०–कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणञ्च मधुसूदन!।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन!॥४॥

अन्वय—हे अरिसूदन! मधुसूदन! (हे कृष्ण!) अहं (मैं) संख्ये (युद्धमें) पूजार्हौ (पूजाके योग्य) भीष्मं द्रोणं च (भीष्म पितामह और द्रोणाचार्यको) इषुभिः (बाणोंके द्वारा) कथं (किस प्रकारसे) प्रतियोत्स्यामि (मार सकूंगा)?

सरलार्थ—अर्जुनने कहा–हे कृष्ण! मैं किस प्रकारसे पूजाके पात्र भीष्मपितामह तथा द्रोणाचार्यके साथ युद्धक्षेत्रमें बाणोंसे लड़ सकता हूं?

चन्द्रिका—अर्जुन कापुरुष नहीं थे, इसलिये श्रीभगवान्के ऐसा कहने पर उन्होंने उत्तर दिया कि कापुरुषताके कारण वे युद्धसे विमुख नहीं हो रहे हैं किन्तु पूजनीय पुरुष जो कि पुष्पचन्दनादिके द्वारा सदा सत्कारके योग्य हैं, जिनके साथ हुंकार तुंकारसे वात करना भी

महापाप है, उनको बाणोंसे प्रहार करना नितान्त अनुचित है, इसी कारण वे युद्धसे विमुख हो रहे हैं। 'प्रतियोत्स्यामि' शब्दका अर्थ प्रति-युद्ध करना है। अर्थात् गुरुजनोंको यों तो मारना ही नहीं चाहिये, अधिकन्तु उनकी ओरसे प्रहार होने पर भी 'प्रतिप्रहार' नहीं करना चाहिये। 'मधुसूदन' 'अरिसूदन' एकबारगी ही दो सम्बोधन अर्जुनके चित्तकी विशेष व्याकुलताका सूचक है॥ ४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥५॥

अन्वय—महानुभावान् (महत् हृदय वाले) गुरून् (पूज्य-जनोंको) अहत्वा हि (न मार कर) इह लोके (इस संसारमें) भैक्ष्यं अपि (भिक्षान्नको भी) भोक्तुं श्रेयः (भोजन करना अच्छा है)। अर्थकामान् गुरून् हत्वा तु (किन्तु अर्थपरायण गुरुजनोंको मार कर) इह एव (यहीं पर) रुधिरप्रदिग्धान् (आत्मीयरक्तसे कलुषित) भोगान् (भोगोंको) भुञ्जीय (हमें भोगना होगा)।

सरलार्थ—महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर इस लोकमें भीख मांग कर खाना भी अच्छा है। क्योंकि अर्थपरायण गुरु-जनोंको मारने पर हमें जो भोग मिलेगा वह उनके खूनसे सना हुआ होगा।

चन्द्रिका—अब यदि यह प्रश्न हो कि जब भीष्म द्रोणको आगे कर कौरव लोग लड़नेको तैयार हैं तो भीष्म द्रोणको मारे बिना तुम्हारा देहयात्रा निर्वाह भी नहीं हो सकता, इसके उत्तरमे अर्जुन कहते हैं कि पूज्यपुरुषोंको मारकर पार्थिव भोग संग्रह करनेकी अपेक्षा भीख

मांग कर गुजारा करना भी अच्छा है, क्योंकि इसमें इहलोकमें थोड़ी बहुत असुविधा होने पर भी परलोक नहीं बिगड़ेगा। इसमें यह भी प्रश्न हो सकता है कि, वे अब 'गुरु' कहां रहे? इन्होंने तो अपने आचरणोंसे गुरुपनकी मर्यादाको खो डाला। क्योंकि महाभारतमें लिखा है—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम्॥

यदि गुरु अहंकारग्रस्त हो जांय, उनमें कार्य अकार्यका विचार नष्ट हो और कुमार्गका आश्रय करें तो ऐसे गुरुका शासन करना चाहिये। इस विचारके अनुसार ये सब शासन करने योग्य है। क्योंकि ये सब तो "अर्थकाम' अर्थात् अर्थलिप्सु होकर पापपक्षका आश्रय किये हुए है। महाभारतमे लिखा है कि युद्धसे पहिले जब युधिष्ठिर इनसे आशीर्वाद लेने गये तो भीष्म द्रोणने कौरवपक्षमें होकर लड़नेका यही कारण कहा था यथा—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥

मनुष्य अर्थका दास होता है, अर्थ किसीका दास नहीं होता, हे महाराज! कौरवोंने हमें अर्थबलसे वशीभूत कर लिया है। अतः इस प्रकार अर्थपरायण गुरुजनोंके शासन करनेमें कोई दोप नहीं हो सकता है। इस प्रश्नका उत्तर अर्जुनने 'महानुभाव' शब्दके द्वारा दिया है। उनका आशय यह है कि वे अर्थवश होने पर भी उनसे अधिक महानुभाव हैं। क्योंकि जिनमें तपोविद्या ब्रह्मचर्य आदिके प्रतापसे कालको जीत कर इच्छामृत्यु होनेकी तथा कामको जीतकर ब्रह्मचर्यके बलसे श्रीभगवान्

तकके प्रतिज्ञाभङ्ग करनेकी शक्ति है वे 'महानुभाव' अवश्य हैं। वे केवल दुर्योधनके निमक खानेके कारण उनकी ओरसे लड़ने आये हैं और युधिष्ठिरको अपनी मृत्युके भी उपाय बता चुके हैं। अतः इनके महानुभाव होनेमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। ऐसे महानुभाव गुरुजनोंको न मार कर भिक्षान्नद्वारा जीवन धारण करनेसे पाण्डवोंको इहलोकमें कुछ कष्ट तो रहेगा किन्तु गुरुवधजन्य परलोक नहीं बिगड़ेगा। और इनको मार देनेसे न मोक्ष ही मिलेगा, न परलोक ही सुधरेगा, केवल इस लोकमें जो कुछ भोग मिलेगा वह भी आत्मीय तथा गुरुजनोंका खून मिला भोग होनेके कारण नितान्त अप्रिय तथा दुःखजनक होगा। अतः इनका वध न करके भिक्षान्नके द्वारा निर्वाह करना ही अच्छा है ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः ॥६॥

अन्वय—न च एतत् (यह भी नहीं) विद्मः (हमारे समझमें आता है) कतरत् (कौनसा कार्य) नः (हमारे लिये) गरीयः (श्रेयस्कर है) यद् वा जयेम (या हम उन्हें जीतें) यदि वा नः जयेयुः (या वे हमें जीत लें) यान् एव (जिन्हें) हत्वा (मार कर) न जिजीविषामः (हम जीना नहीं चाहते) ते धार्त्तराष्ट्राः (वे सब कौरव) प्रमुखे (सामने) अवस्थिताः (युद्धार्थ डटे हैं)।

सरलार्थ—इस युद्धमें हम उन्हें जीतें या वे हमें जीतलें इन दोनोंमेंसे कौनसा कार्य अच्छा है यह भी हमारी समझमें नहीं आ रहा है, क्योंकि जिन बन्धुओंको मार कर

हम जीवित रहना ही नहीं चाहते, वे सब कौरव युद्धके लिये सामने डटे हैं ।

चन्द्रिका—इस प्रकारसे मोहमूलक अनेक विचार करते करते अन्तमें अर्जुनको यह भी नहीं सूझा कि युद्ध करने या न करनेमें कौनसा मार्ग श्रेयस्कर है । उनका यही विचार होता रहा कि उनके लिये जय भी पराजय ही है, जीना भी मरना ही है, क्योंकि आत्मीयोंको मार कर जीवित रहना वे व्यर्थ समझते थे । इस प्रकारसे चित्तके दीनताग्रस्त होनेपर उन्होंने शिष्यरूपसे श्रीभगवान्‌की शरण ली और इस भीषण कर्मसंकटमें अपना कल्याणका मार्ग पूछा जो कि आगेके श्लोकमें बताया गया है ॥६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढ़चेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्

अन्वय—कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः (दैन्य दोषके द्वारा अभिभूत निज स्वभाव) धर्मसंमूढ़चेताः (धर्मनिर्णयके विषयमें मूढ़ चित्त मैं) त्वां पृच्छामि (तुम्हें पूछता हूँ) मे (मेरा) यत् (जो) निश्चितं श्रेयः स्यात् (यथार्थमें भलाईका हो) तत्ब्रूहि (सो कहो) अहं ते शिष्यः (मैं तुम्हारा शिष्य हूं) त्वां प्रपन्नं मां (तुम्हारी शरणमें आये हुए मुझको) शाधि (शिक्षा प्रदान करो) ।

सरलार्थ—दैन्यदोषके द्वारा मेरी स्वाभाविक वृत्ति मारी गयी है, अपने धर्मके निर्णयमें मेरा चित्त घबड़ा उठा है, इसलिये मैं तुमसे पूछता हूं मेरे लिये जो यथार्थमें कल्याण-

कारी हो वही बताओ, मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, शिष्यरूपसे तुम्हारी शरणमें आये हुए मुझको उचित शिक्षा प्रदान करो।

चन्द्रिका—संसारमें 'कृपण' तीन प्रकारके होते हैं—प्रथम जो कुछ भी खर्च या दान न करे, अर्थ जोड़े ही जाय वह कृपण। दूसरा—दुर्लभ मनुष्यजन्म पानेपर भी जो परमात्माको शरीर मन प्राण कुछ भी समर्पण न करे वह कृपण। और तीसरा विचारमें घबड़ाकर जिसका चित्त दीनदशाग्रस्त हो गया है वह कृपण। अर्जुनमें यह तीसरी कृपणता आ गई थी, जिसको कार्पण्यदोष कहा गया है। उस दोषके द्वारा उनका अपना शूरता वीरता आदि भाव नष्ट हो गया था, जिसको 'कार्पण्य दोषके द्वारा उपहत स्वभाव' शब्दसे बताया गया है। उनका धर्म उस समय क्या है, लड़ना चाहिये या शत्रुके द्वारा निहत होना चाहिये, राज्य करना चाहिये या भिक्षा मांगकर जीवन धारण करना चाहिये, यह उनको सूझता न था जिसको 'धर्म संमूढ़चेता' शब्दके द्वारा बताया गया है। ऐसी दीन दशा तथा मूढ़ दशाके उदय होनेपर तब उन्होंने सखाभावको भूलकर शिष्यभावसे भगवान्‌की शरण ली और स्थायी कल्याणका मार्ग पूछा। भगवान्‌ने भी शरणागत होना, जिज्ञासु होना, दीन होना आदि शिष्यलक्षणको देखकर अर्जुनको सच्चा मार्ग बताना निश्चय किया॥ ७॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥८॥

अन्वय—भूमौ (पृथिवीमें) असपत्नं (शत्रुरहित) ऋद्धम् (समृद्धिसे युक्त) राज्यं (राज्यको) सुराणां अपि

(और देवताओंके भी) आधिपत्यं च (प्रभुत्वको) अवाप्य (पाकर) यत् (जो वस्तु) मम इन्द्रियाणां (मेरी इन्द्रियों-के) उच्छोषणं (शोषणकारी) शोकं (शोकको) अपनुद्यात् (दूर कर सके) न हि प्रपश्यामि (वह मुझे नहीं दीखता)।

सरलार्थ—यदि समस्त पृथिवीका निष्कण्टक ऐश्वर्य-युक्त राज्य मुझे मिल जाय और इन्द्रत्व तक मैं प्राप्त कर लूं तथापि इन्द्रियोंको सुखा देनेवाला मेरा यह तीव्र शोक कैसे दूर हो सकेगा यह मुझे नहीं दीख रहा है।

चन्द्रिका—'तुम विज्ञ हो स्वयं ही कर्त्तव्य ठीक कर लो दूसरेके शिष्यत्व ग्रहण करनेका क्या प्रयोजन है' ऐसी शङ्का नहीं होनी चाहिये, इस कारण कहते है कि मुझे कुछ सूझता ही नहीं कि मेरा यह तीव्र शोक कैसे निवृत्त होगा। 'तुम क्षत्रिय हो युद्धके जीतनेपर इस लोकमें उत्तम सुखकर राज्य मिलेगा और परलोकमें भी स्वर्गादि सुख मिलेगा, अतः शोक करनेका कारण नहीं' इसके उत्तरमें कहते हैं कि क्या समस्त संसा-रका निष्कण्टक राज्य और क्या देवराज इन्द्रका इन्द्रत्व पद किसीसे भी शोक दूर नहीं हो सकेगा। भगवान् ही सच्चा रास्ता वताकर अर्जुनको शोक समुद्रसे तार सकते हैं। इसीलिये अर्जुनने शिष्य बनकर उनकी शरण ली है। संसारशोकसे अभिभूत होकर इस प्रकार गुरुकी शरण लेना शिष्यत्वका आदर्श लक्षण है अतः शोक निवारणके लिये भगवान्की कृपा भी होगी यह सूचित किया गया॥ ८॥

सं०उ०—एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥९॥

अन्वय—परन्तपः (शत्रुको सन्ताप देनेवाला) गुड़ाकेशः (आलस्यहीन अर्जुन) हृषीकेशं (श्रीकृष्णको) एवं उक्त्वा (ऐसा बोल कर) न योत्स्ये (मैं नहीं लड़ूंगा) इति गोविन्दं उक्त्वा (भगवान्‌को यह कहता हुआ) तूष्णीं बभूव ह (चुप हो गया)।

सरलार्थ—सञ्जयने राजा धृतराष्ट्रसे कहा-हे महाराज! अन्तर्यामी श्रीकृष्ण भगवान्‌को इतना कह कर शत्रुमर्दन आलस्यहीन अर्जुन 'मैं युद्ध नहीं करूंगा' ऐसा कहता हुआ चुप हो गया।

चन्द्रिका—अर्जुनके आलस्यहीन तथा शत्रुतापन होने पर भी शत्रुओंके सम्मुख इस प्रकार निश्चेष्ट हो जाना यही सूचित करता है कि ये वृत्तियां इनकी स्वाभाविक नहीं थीं, किन्तु आगन्तुक थीं। इसी कारण 'परन्तप' और 'गुड़ाकेश' ये दो शब्द तथा 'ह' शब्द श्लोकमें दिये गये हैं। श्रीकृष्ण 'हृषीकेश' तथा 'गोविन्द' हैं इसलिये अर्जुनकी इन वृत्तियोंको दूर करके सच्चा ज्ञान भी उन्हें दे सकेंगे यही इन दोनों पदोंके द्वारा सूचित हुआ है। श्रीभगवान्‌के पूर्व कहे हुए वाक्यों पर भी 'चुप ही हो जाना' शोक मोहकी गम्भीरताको सूचित करता है जिसके लिये विशेष उपदेशकी आवश्यकता होगी ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

अन्वय—हे भारत! (हे महाराज धृतराष्ट्र!) हृषीकेशः (भगवान् श्रीकृष्ण) प्रहसन् इव (मानो उपहास करते हुए) उभयोः सेनयोः मध्ये (दोनों सेनाओंके बीचमें) विषीदन्तं

(शोक करने वाले) तं (अर्जुनको) इदं वचः (निम्न लिखित वाक्य) उवाच (बोले) ।

सरलार्थ—हे महाराज ! दोनों सेनाओंके वीचमें शोक-मग्न कर्त्तव्यच्युत अर्जुनको श्रीभगवान्‌ने कुछ उपहाससा करते हुए निम्न लिखित वाक्य कहा ।

चन्द्रिका—यदि घरमें ही रहते समय आत्मीयवधके विचारसे अर्जुन युद्ध न करनेका सङ्कल्प करता तो इतना महान् दोष नहीं होता। अब तो दोनों सेनाओंके बीचमें आकर शङ्खादि शब्दोंके द्वारा युद्धकी पूरी सूचना हो जाने पर अर्जुनमें इस प्रकार स्वधर्मविरुद्ध निश्चेष्टता आगयी, यह बहुत ही निन्दनीय तथा अनुचित कार्य था, इसी कारण 'सेनयोरुभयोर्मध्ये' अर्थात् दोनो सेनाओंके वीचमें इस पदका प्रयोग हुआ है । और यही श्रीभगवान्‌के 'उपहास' करनेका भी हेतु था । 'उपहास' आदि प्रायः द्वेषवृत्तिके द्वारा किसीको लज्जित करके नीचा दिखानेके लिये किया जाता है । यहां पर अर्जुनके प्रति श्रीभगवान्‌का प्रेम था, द्वेष नहीं था, और उनको ज्ञान देकर मोह निवृत्ति करनेकी भी इच्छा थी, अतः यह उनका उपहास साधारण उपहासमात्र है, ऐसा सूचित करनेके लिये 'इव' शब्दका प्रयोग हुआ है । अर्जुनके अपने कर्त्तव्यमे उपेक्षा दिखानेपर भी श्रीभगवान्‌ने उपेक्षा नहीं दिखाई, किन्तु परम कल्याणकर उपदेशोंके द्वारा उनका तथा समस्त संसारका कर्त्तव्यपथ खोल दिया यह उनकी अपार करुणाका ही प्रताप है ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

अन्वय—त्व (तुम) अशोच्यान् अन्वशोचः (जिनके लिये शोक नहीं करना चाहिये उनके लिये शोकयुक्त हुए हो) प्रज्ञावादान् (किन्तु ज्ञानियोंकी बातें) भाषसे च (कहते हो) पण्डिताः (ज्ञानिगण) गतासून् अगतासून् च (मृत या जीवित व्यक्तियोंके विषयमें) न अनुशोचन्ति (विशेष ख्याल नहीं करते, हृदयमें कोई विशेष चिन्ता नहीं लाते)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्ने कहा—तुम जिनके लिये शोक करना नहीं चाहिये उनके लिये शोक करते हो किन्तु पण्डितोंकी तरह बातें करते हो, पण्डितगण जीवोंके जन्ममृत्युरूप व्यापारमें इतने चिन्तायुक्त नहीं होते हैं।

चन्द्रिका—अर्जुनको यथार्थ जिज्ञासु जानकर उनके शोक मोह निवारणार्थ श्रीभगवान्का उपदेश इसी श्लोकके द्वारा प्रारम्भ हुआ है। और जिस प्रकार अर्जुनको निमित्त बनाकर उन्होंने कुरुक्षेत्र भूमिमें पापियोंके निधनद्वारा भूभार हरण किया था, इसी प्रकार मन्दमति कलियुगके जीवोंको गीतोपदेश द्वारा जीवनका कर्तव्य बतानेके लिये भी अर्जुन हीको निमित्त बनाया है। अर्जुन शोकमोहके द्वारा ग्रस्त होकर अपना स्वधर्म भूल रहे थे, पूज्योंको आत्मीयोंको कैसे मारा जाय यह उनकी शंका हुई थी, इसलिये प्रथमतः जन्म मृत्युका रहस्य बतानेके लिये श्रीभगवान्ने आत्माकी नित्यता तथा शरीरादिकी अनित्यताकी ओर अर्जुनका ध्यान आकर्षित किया और यह बताया कि उनके द्वारा कौरवोंके शरीर नाश होनेपर ही सब कुछ समाप्त हो जायगा यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा नित्य वस्तु है, क्षणभंगुर शरीरके नाशसे आत्माका

नाश नहीं होता है, मृत्यु केवल अवस्थान्तर मात्र है। इसमें श्रीभगवान्का यह उद्देश्य नहीं था कि अर्जुन उसी समय आत्मज्ञ ही बन जाएं, किन्तु आत्माकी ओर ध्यान दिलाकर शरीरादि नाशके विषयमें उनका जो मोह हो रहा था उसको दूर कर देना ही इसका उद्देश्य था। इसके बाद क्रमशः मध्यमाधिकार तथा निम्नाधिकारकी बात भी बतलाई अर्थात् युद्ध करना उनका स्वधर्म है यह कहा और न करनेसे अपयश होगा यह भी कहा। संसारमें भी मनुष्य इन तीनों विचारोंके द्वारा ही अपना कर्तव्य करते हैं। उत्तम कोटिके मनुष्य ज्ञानकी शरण लेकर आत्मा अनात्माके विचारसे कर्तव्य निश्चय करते हैं, मध्यम कोटिके मनुष्य कुलधर्म, जातिधर्म आदिके विचारसे कर्तव्य निश्चय करते हैं, और साधारण मनुष्य लोकनिन्दा आदिके विचारसे कर्त्तव्य पथपर चलते हैं। इस प्रकार त्रिविध अधिकार विचारसे ज्ञान पक्षको लेकर श्रीभगवान् पहिले कहते हैं 'अर्जुन तुम पंडितकी तरह तो बोलते हो, किन्तु अपण्डितकी तरह आचरण करते हो। 'पण्डा' अर्थात् आत्मविषयक बुद्धि जिनकी है वे पण्डित कहाते हैं। पण्डितगण जन्ममृत्युके रहस्यको जानते हैं, शरीरके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता है, यह उनको पता है, इस कारण कोई मरे या जीवे इसका कोई असर उनपर नहीं होता है। तुम जब पण्डितकी तरह कह रहे हो तो तुम्हे भी ऐसी ही बुद्धि होनी चाहिये। भीष्म द्रोण आदि तुम्हारे शोक करने योग्य नहीं है, क्योंकि इनका शरीर नाश होनेपर भी आत्मा अमर होनेके कारण वास्तवमें इनकी मृत्यु नहीं होगी। अतः तुम्हे ऐसा शोकमग्न नहीं होना चाहिये॥ ११॥

द्रोणादि क्यों शोक करने योग्य नहीं हैं इसके उत्तरमें कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

अन्वय—अहं जातु (मैं कभी) न तु एव आसम् (नहीं था) न (यह नहीं है) त्वं (तुम कभी नहीं थे) न (यह भी नहीं है) इमे जनाधिपाः (ये राजागण कभी नहीं थे) न (यह भी नहीं है) अतः परं (भविष्यत्में भी) सर्वे वयं (हम सब) न भविष्यामः (नहीं होंगे) एवच न (यह भी नहीं है) ।

सरलार्थ—मैं कभी नहीं था यह नहीं है, तुम कभी नहीं थे यह भी नहीं है, ये सब राजा लोग कभी नहीं थे यह भी नहीं है, भविष्यतमें हम सब नहीं होंगे यह भी नहीं है। अर्थात् आत्माके नित्य होनेसे सबके सब पहिले भी थे और भविष्यत्-में भी रहेंगे ।

चन्द्रिका—भीष्म द्रोणादि क्यों अशोच्य हैं इसका उत्तर इस श्लोकमें दिया गया है । आत्मा नित्य तथा अविनाशी है, शरीरके नाश-से उसका नाश नहीं होता है, इस कारण अतीत कालमें शरीरके नाश होनेपर भी सबके आत्मा थे और भविष्यत्में कितनेही वार शरीरके नाश हो जानेपर भी वे ही आत्मा ऐसेही रहेंगे । आत्माका कभी नाश नहीं होता । वह त्रिकालमें एकसा ही रहता है । भीष्म द्रोणादिके भी शरीरनाश द्वारा आत्माका नाश नहीं होगा । अतः उनके लिये शोक करना नहीं चाहिये ॥ १२ ॥

आत्मा कैसे नित्य तथा अविनाशी है इसके उत्तरमें कहते हैं-

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

अन्वय—यथा (जिस प्रकार) देहिनः (देहसे युक्त आत्मा-का) अस्मिन् देहे (इस देहमें) कौमारं (बचपन) यौवनं (युवा-वस्था) जरा (वृद्धावस्था होती है) तथा (उसी प्रकार) देहान्तर-प्राप्तिः (मृत्युरूपी अन्यदेह प्राप्ति है) तत्र (उसमें) धीरः (धीर पण्डित) न मुह्यति (शोकमोहग्रस्त नहीं होते हैं)।

सरलार्थ—जिस प्रकार देहवान् आत्माके इस देहमें बच-पन, यौवन और बुढ़ापारूपी तीन अवस्थायें होती हैं, ऐसे ही मृत्युके द्वारा अन्य देहकी प्राप्ति भी एक अवस्थाका परिवर्तन मात्र है, इसमें धीर ज्ञानी पुरुष मोहप्राप्त नहीं होते।

चन्द्रिका—मृत्यु आदिके देखते हुए भी आत्माको कैसे अविनाशी कहा जाय इसका समाधान इस श्लोकमें किया गया है। मृत्यु आदिसे आत्माका कुछ भी परिवर्तन नहीं होता है। जिस प्रकार जीवित शरीरमें प्रथम बचपन, उसके बाद यौवन और उसके बाद बुढ़ापा आता है, उसी प्रकार मृत्यु भी अन्यदेह प्राप्तिरूप एक अवस्थाका परिवर्तन मात्र है। ये सब अवस्थायें शरीरमें होती हैं, उससे आत्मापर कोई परिवर्तन नहीं होता है। आर्यशास्त्रमें शरीररूपी समुद्रके छः तरङ्ग बताये गये हैं यथा—जायते, तिष्ठति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है, ठहरता है, बढ़ता है, परिणामको पाता है, क्षय होता है और अन्तमें नष्ट हो जाता है। ये सब शरीरके ही स्वाभाविक धर्म हैं, आत्माके नहीं। जिस प्रकार बचपनका शरीर बदलकर यौवनका शरीर

मिलने पर कोई शोक नहीं करता है, उसी प्रकार मृत्युद्वारा शरीरके बदल जाने पर भी शोक करना मिथ्या मोह मात्र है। धीर पण्डितगण ऐसे मोहमें नहीं पड़ते, क्योंकि उनको पता रहता है, कि आत्माका उसमें कुछ जाता आता नहीं। श्लोकमें 'धीर' शब्दका इसलिये प्रयोग किया गया है कि धीर व्यक्तिके लिये ही मृत्युरूपी सन्धिके समय सावधान रहना सम्भव है, बाकी अधीर लौकिक मनुष्य तो मृत्युके देखनेसे रोते पिटते ही रहते हैं। 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां हि चेतांसि त एव धीराः' जिनका चित्त विकारके कारण सामने आने पर विकृत न होकर शांत रहता है, वे ही धीर हैं। ऐसे धीर पुरुष मृत्यु रूपी देह परिवर्तनमें कदापि मुग्ध नहीं होते हैं, इसलिये नित्य आत्माकी धारणा करके अर्जुनको भी मोह त्यागपूर्वक अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये ॥ १३ ॥

आत्माके विचारसे शोक न करने पर भी शरीरादिके सम्बन्धसे सुखदुःख तो होते ही हैं इसका क्या किया जाय इसके उत्तरमें कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय ! शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ! ॥१४॥

अन्वय—हे कौन्तेय ! (हे अर्जुन !) मात्रास्पर्शाः तु (इन्द्रियोंके विषयोंके साथ सम्बन्ध) शीतोष्ण सुखदुःखदाः (शीत उष्ण, सुखदुःख आदि द्वन्द्वभावको उत्पन्न करनेवाले हैं) आगमापायिनः (वे उत्पत्ति और विनाशसे युक्त हैं) अनित्याः (अतः अनित्य हैं) हे भारत ! (हे अर्जुन !) तान् (उनको) तितिक्षस्व (सहन करो)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संस्पर्श शीत उष्ण, सुखदुःख आदि द्वन्द्वभावको उत्पन्न करता है। किन्तु ये सभी उत्पत्ति तथा विनाशसे युक्त होनेके कारण अनित्य हैं। इसलिये हे भारत! तुम इनको सहन कर लो।

चन्द्रिका—यद्यपि आत्मा नित्य है, तथापि शरीर और मनमें तो मृत्यु तथा संयोग वियोग आदिके समय सुखःदुख होते ही हैं उनके लिये शोक क्यों न करे, इस शङ्काका उत्तर इस श्लोकमें दिया गया है। जिसके द्वारा रूप रस आदि विषय मापे जाते हैं अर्थात् ज्ञात होते हैं उसे मात्रा अर्थात इन्द्रिय कहा जाता है। उसी इन्द्रियका जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्दरूपी विषयोंके साथ संस्पर्श है उसको मात्रास्पर्श कहते हैं। इसके द्वारा शीत, उष्ण, सुखःदुखकी उत्पत्ति होती है। शीत उष्ण, सुखदुःख शब्दसे केवल इतना ही नहीं समझना चाहिये। ये शब्द द्वन्द्वभावके सूचक हैं। अर्थात् शीत उष्ण, राग द्वेष, सत् असत्, सुखदुःख इत्यादि परस्पर विरुद्ध द्वन्द्वकी उत्पत्ति इन्द्रियोंके साथ विषयोंके संयोग द्वारा होती है। एक ही वस्तु मनके अभिमानके अनुसार कभी सुखदायी और कभी दुःखदायी होती है। जो वस्तु बचपनमें सुखदायी प्रतीत होती है, वही यौवनमें सुखदायी नहीं रहती है, जिस वस्तुमे सुख समझकर युवक आसक्त हो जाता है, वही उसके बुढ़ापामें दुःखकर मालूम होने लगती है। भोगी जिस वस्तुमें सुख देखता है, त्यागी उसीमें दुःख समझता है, यही सब माया जनित द्वन्द्वभावका खेल है। किन्तु ये सभी शरीर और मनमें क्षणिक अभिमानके कारण उत्पन्न होते हैं, इनकी उत्पत्ति तथा नाश अवश्य होता है, ये सब अनित्य तथा थोड़े ही दिनोंमें नष्ट हो जानेवाले हैं, आत्माके साथ इनका

कोई भी सम्बन्ध नहीं है, अतः इन द्वन्द्वोंमें व्यथित तथा आसक्त न होकर इन्हें अन्तःकरणका धर्म जान सहन कर लेना ही उचित है। निर्लिप्त तथा मायासे परे विराजमान आत्माको वैषयिक सुखदुखःमें सुखी दुःखी नहीं मानना चाहिये, क्योंकि ये सब परायी वस्तु हैं, आत्माकी नहीं हैं ॥ १४ ॥

सुखदुःखादि द्वन्द्वोंमें व्यथित न होनेपर क्या होता है इसके उत्तरमें कहते हैं—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ! ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

अन्वय—हे पुरुषर्षभ ! (हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन !) एते (सुख दुःखादि द्वन्द्व पदार्थ) समदुःखसुखं (सुख दुःख आने पर एक भावसे रहनेवाले) धीरं (धैर्य्यसे युक्त) यं पुरुषं (जिस पुरुषको) न व्यथयन्ति (विचलित नहीं करते है) सः (वही पुरुष) अमृतत्वाय कल्पते (मुक्तिलाभ कर सकता है)।

सरलार्थ—हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ! सुखदुःख रागद्वेष आदि द्वन्द्व पदार्थ सुखदुःखमें हर्षविषाद रहित समभावापन्न जिस धीर पुरुषको विचलित नहीं कर सकते वही मोक्षपदको प्राप्त कर सकता है।

चन्द्रिका—पूर्वश्लोकमें 'धीर' पुरुषके लक्षण कहे गये है। जो द्वन्द्वमे विचलित न होकर एक भावापन्न रहतेहै वे ही 'धीर' है। रागद्वेष, सुखदुःख आदि मायाके गुण विकार जनित परिणामशील अनेक

भाव हैं। इनमें अपनी बुद्धिके चञ्चल तथा मुग्ध कर देनेपर जीव मायामें ही फंसा रहता है। इस द्वन्द्वभावसे परे साम्यभाव ही ब्रह्म-भाव है। अतः जो इन द्वन्द्वोंमें न फंसकर साम्यभावमें रहता है, उसको ब्रह्मभावकी प्राप्ति अर्थात् मोक्षलाभ अनायास ही हो जाता है॥ १५ ॥

अब तत्त्वदृष्टिसे शीतोष्णादि द्वन्द्ववस्तुओंमें मुग्ध न होनेके विषयमें उपदेश करते हैं:—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

अन्वय—असतः (असत् वस्तुका) भावः (अस्तित्व) न विद्यते (नहीं है) सतः (सत् वस्तुका) अभावः (नास्तित्व) न विद्यते (नहीं है)। तत्त्वदर्शिभिः तु (तत्त्वदर्शी पुरुषोंने) अनयोः उभयोः (सत् असत् दोनोंका) अन्तः (निर्णय) दृष्टः (जान लिया है)।

सरलार्थ—जो नहीं है वह कभी हो नहीं सकता और जो है उसका कभी अभाव भी नहीं हो सकता। तत्त्वज्ञानी पुरुषोंने 'सत् असत्' इन दोनों वस्तुओंका अन्त जान लिया है अर्थात् इनके स्वरूपका निर्णय किया है।

चन्द्रिका—संसारमें सत् पदार्थ आत्मा ही नित्य है, बाकी सब अनित्य है, इस श्लोकके द्वारा यही प्रमाणित किया गया है। वास्तवमें विचार करनेपर यही तथ्य निकलता है। संसारमे घट पट आदि जो कुछ स्थूल वस्तुएं देखनेमे आती हैं, ये सब सूक्ष्म परमाणुकी समष्टिके

सिवाय और कुछ भी नहीं है। और सूक्ष्म परमाणु भी पञ्चतत्वके परिणाम द्वारा उत्पन्न हुए हैं। पञ्चतत्त्व भी आकाशादि क्रमसे विकाशको प्राप्त हुए हैं। जिन सबकी मूल अव्यक्त प्रकृति है। अव्यक्त प्रकृति भी परमात्माकी इच्छाशक्तिका प्रकाशमात्र है। अतः निश्चय हुआ कि सांसारिक समस्त वस्तुओंकी स्थिति अनित्य है, केवल जिस मौलिक सत्ताके ऊपर इन सबकी स्थिति है वही नित्य वस्तु है। किसी वस्तुका नाश होनेपर भी सत्ताका नाश नहीं होता है, क्योंकि सत्ता पदार्थ सबके मूलमें है और इसी सत्ता पदार्थके ऊपर ही पृथक् पृथक् वस्तुओंको अनित्य तथा परिवर्तनशील स्थिति देखनेमें आती है। यही सर्वत्र व्याप्त सबके मूलमें स्थिति सत्ता सत्पदार्थ अर्थात् आत्मा है, जिसका कभी अभाव नहीं हो सकता है। बाकी सब असत् पदार्थ हैं जिनकी तात्विक स्थिति न होनेके कारण असत्का भाव नहीं है ऐसा कहा गया है। पदार्थोंके तत्त्व जाननेवाले ज्ञानिगण सत् असत् दोनोंका ही वास्तविक पता लगा लेते हैं और अनित्य असत् पदार्थका परिणाम देखकर शोकमुग्ध नहीं होते हैं। अतः अर्जुनको भी तत्त्वदृष्टिकी सहायतासे विचार करके अनित्य परिणामी सुख दुःखादि द्वन्द्व वस्तुओंमें मुग्ध नहीं होना चाहिये, किन्तु धीरताके साथ उन्हें सहन करते हुए स्वधर्म पालन करना चाहिये यही उपदेश है ॥ १६ ॥

अब सत् पदार्थको और भी स्पष्ट करके बताते हैंः—

अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्त्तुमर्हति ॥१७॥

अन्वय—येन (जिस ब्रह्मके द्वारा) इदं सर्वं (यह समस्त

चराचर विश्व) ततं (व्याप्त है) तत् तु (उसे ही) अविनाशी (नाशहीन सद्वस्तु) विद्धि (जानो) कश्चित् (कोई भी) अव्ययस्य अस्य (एकही रूपमें रहनेवाले इस ब्रह्मका) विनाशं कर्त्तुं (नाश करनेमें) न अर्हति (समर्थ नहीं होता है।)

सरलार्थ—जिसके द्वारा संसार व्याप्त है, उस सत् वस्तुको ही नाशरहित ब्रह्म जानना चाहिये। एकरूपमें सदा स्थित इस ब्रह्मका विनाश कोई भी नहीं कर सकता है।

चन्द्रिका—जिस प्रकार समुद्रजलमें सर्वत्र निमक व्याप्त है या दुग्धमें सर्वत्र घृत व्याप्त है, उसी प्रकार आत्माके द्वारा भी समस्त विश्व चराचर परिव्याप्त है, आत्मासे खाली कहीं कुछ भी नहीं है। इस तरह सबके मूलमे होनेके कारण आत्माकी सत्ता नित्य तथा अविनाशी है। इसका विनाश कोई भी नहीं कर सकता है क्योंकि सभीमें जब आत्मा है तब आत्माके द्वारा आत्माका घात सम्भव नहीं है। 'न व्येति इति अव्ययः' अर्थात् जिसकी ह्रास वृद्धि नहीं होती है उसको अव्यय कहते हैं। साकार स्थूल पदार्थही घटता बढ़ता रहता है, आत्मा निराकार है, इसलिये उसमें ह्रास वृद्धि नहीं हो सकती है। अतः सर्व्वव्यापी नाशरहित आत्मा अव्यय है ॥ १७ ॥

सत् पदार्थके विषयमें स्पष्टतररूपसे कहकर अब असत् पदार्थके विषयमें स्पष्टतररूपसे कहते हैं—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ! ॥१८॥

अन्वय—नित्यस्य अनाशिनः (सदा एकरूप विनाशरहित)

अप्रमेयस्य (प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके द्वारा सीमावद्ध न होने-वाले) शरीरिणः (शरीरके स्वामी आत्माके) इमे देहाः (ये सब शरीर) अन्तवन्तः (नाशशील) उक्ताः (कहे गये हैं)। हे भारत! (हे अर्जुन!) तस्मात् (इसलिये) युध्यस्व (युद्ध करो)।

सरलार्थ—शरीरका स्वामी आत्मा सदा एकरूप, अवि-नाशी तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अगम्य है। उसके साथ ये जो सब शरीर हैं, ये ही नाशवान् कहे जाते हैं। इसलिये हे अर्जुन! तुम युद्धसे विमुख मत हो जाओ।

चन्द्रिका—आत्मा 'शरीरी' अर्थात् शरीरका प्रभु है, शरीरके द्वारा बद्ध नहीं है। उसको नित्य और अविनाशी एकही अर्थ वाचक दोनों विशेषणोंके द्वारा युक्त करनेका कारण यह है कि जीव मृत होनेपर भी नष्ट कहलाता है और रोगादि द्वारा क्षीण होनेपर भी नष्ट कहलाता है इनमेंसे किसी प्रकारका भी नाश आत्माको नहीं प्राप्त होता है, इसलिये आत्मा नित्य और अविनाशी है। आत्मा 'अप्रमेय' अर्थात् प्रमाणकोटिके बाहर है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण है। उनमेंसे इन्द्रियग्राह्य न होनेके कारण तो आत्मा प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण गम्य हो ही नहीं सकते। बाकी रहा शब्द प्रमाण इसमें भी यह निश्चय है कि अपनी सत्ताके ज्ञान बिना प्रमाण करनेवालेकी प्रमाणमें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। और वही सत्ता आत्मा है। अतः आत्मा प्रमाणके द्वारा सिद्ध नहीं है, प्रमाणके पहिले ही सिद्ध है अर्थात् स्वतः सिद्ध वस्तु है। अतः आत्मा अप्रमेय है। आत्मा अद्वैत वस्तु है, इस कारण प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयरूपी

त्रिपुटिके भीतर नहीं आ सकते, ऐसे अविनाशी आत्माके साथ होनेवाले ये सब शरीर नाशवान् हैं । इसलिये भीष्म द्रोणादिके शरीर भी नाशवान् हैं । युद्ध करने या न करनेपर भी इनके शरीरोंका कभी न कभी नाश ही होगा, अतः अर्जुनको स्वधर्मपालनसे विरत नहीं होना चाहिये । 'युध्यस्व' शब्दके द्वारा युद्धरूपी कर्त्तव्य नहीं बताया गया है, केवल युद्धसे अर्जुन जो निवृत्त हो रहा था, उसीको श्रीभगवान्ने सम्हाल दिया ॥ १८ ॥

अब श्रुतिवचन द्वारा श्रीभगवान् आत्माका अविनाशी, अकर्त्ता तथा विकाररहित होना प्रमाणित करते हैं—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१६॥

अन्वय—यः (जो मनुष्य) एनं (इस आत्माको) हन्तारं वेत्ति (मारनेवाला करके जानता है) यः च (और जो मनुष्य) एनं (इस आत्माको) हतं मन्यते (मारा जाता है करके जानता है) तौ उभौ (वे दोनों ही) न विजानीतः (ठीक तत्त्वको नहीं जानते) अयं (यह आत्मा) न हन्ति (न मारता है) न हन्यते (और न स्वयं ही किसीके द्वारा हत होता है) ।

सरलार्थ—जो आत्माको हन्ता मानता है या जो इसे हत मानता है वे दोनों ही तत्त्व वस्तुसे अपरिचित हैं क्योंकि न आत्मा मरता ही है और न मारा जा सकता ही है ।

चन्द्रिका—श्रुतिमे लिखा है 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चे-

न्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।' अर्थात् मारनेवाला यदि समझे कि, आत्माको वह मारता है और मारे जानेवाला यदि समझे कि, आत्मा मर गया तो वे दोनों ही भ्रान्त हैं। यह श्लोक इसी श्रुतिका अनुवादमात्र है। आत्मा अविनाशी तथा अकर्त्ता होनेके कारण न हनन क्रियाका कर्त्ता ही हो सकता है और न कर्म ही हो सकता है। अर्थात् न मार ही सकता है और न मारा हो जा सकता है। इसलिये अर्जुन भीष्म द्रोण आदि-को मारेंगे और वे उनके हाथसे मारे जायेंगे, यह धारणा अर्जुनकी भ्रान्तिमात्र है। शरीरके नाशसे अविनाशी तथा विकाररहित आत्माका कुछ भी नहीं होता ॥ १९ ॥

दूसरे श्रुतिमन्त्रके अनुवाद द्वारा आत्माकी अविकारिता-को और भी स्पष्टरूपसे बता रहे हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।२०।

अन्वय—अयं (यह आत्मा) कदाचित् (कभी) न जायते म्रियते वा (न जन्मता है और न मरता है) वा (अथवा) भूत्वा (होकर) भूयः (पुनः) न भविता (नहीं होगा) न (यह भी नहीं है)। अजः (जन्मरहित) नित्यः (मृत्युरहित) शाश्वतः (क्षयरहित) पुराणः (वृद्धिरहित) अयं (यह आत्मा) शरीरे हन्यमाने (शरीरके हत होनेपर) न हन्यते (नहीं हत होता है)।

सरलार्थ—यह आत्मा न कभी जन्मता है और न मरता

है, अथवा कभी होकर फिर नहीं होगा यह भी नहीं है। जन्म, मृत्यु, क्षय, वृद्धि सबसे रहित यह आत्मा शरीरके नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है।

चन्द्रिका—कठोपनिषद्में 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इत्यादि जो मन्त्र है यह श्लोक उसीका ही विस्तार मात्र है। इसमें यही स्पष्ट किया गया है कि अविनाशी, अकर्त्ता आत्मामें किसी प्रकारका भी विकार नहीं होता है। आत्मा न जन्मता है और न मरता है इसलिये आदि तथा अन्तके दो विकार आत्मामें नहीं हुए। बीचके दो विकार ह्रास वृद्धिके होते हैं सो भी निराकार होनेसे आत्मामें नहीं हैं, इस कारण आत्मा शाश्वत तथा पुराण कहा गया है। पुरानी वस्तु पञ्चभूतके संयोगसे बढ़ जाती है, और नई वस्तु ऐसा संयोग न पानेके कारण नहीं बढ़ती है। आत्मा किन्तु 'पुरापि नव एव' अर्थात् पुराना होने पर भी नवीनकी तरह एकरूप ही रहता है। यही पुराण शब्दका अर्थ है। इस प्रकारसे सकलविकाररहित होनेके कारण शरीरके मृत्यु रूपी परिणाम द्वारा आत्माका कोई भी परिणाम नहीं होता है यही सिद्ध हुआ ॥ २० ॥

अविकारी तथा अविनाशी आत्माका स्वरूप कह कर अब इस विषयका उपसंहार करते हैं—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ! कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

अन्वय—हे पार्थ! (हे अर्जुन!) यः (जो) एनं (इस आत्माको) अविनाशिनं नित्यं अजं अव्ययं (अविनाशी,

नित्य अज अव्यय करके) वेद (जानता है) सः पुरुषः (वह मनुष्य) कथं कं हन्ति (कैसे किसीको मारेगा) कं घातयति (या किसीको मारनेकी आज्ञा देगा) ?

सरलार्थ—हे अर्जुन ! जो मनुष्य आत्माको अविनाशी नित्य अज तथा अव्यय जानता है वह कैसे किसीको मारेगा या मारनेकी आज्ञा देगा ?

चन्द्रिका—अर्जुनको जो यह आशङ्का थी कि वह भीष्म द्रोणादिको मारेगा और भगवान् अर्जुनके द्वारा उन्हें मरवा देंगे, इसका निराकरण पूर्वकथित अनेक उपदेशोंके द्वारा आत्माका स्वरूप कहते हुए बताकर अब अन्तमें श्रीभगवान्‌ने यही कह दिया कि, अविनाशी तथा विकाररहित आत्माके विषयमें अर्जुनका इस प्रकार आशङ्का करना और उससे युद्धरूपी कर्त्तव्य पालनमें उदासीन हो जाना भ्रममात्र है। आत्मा जन्मरहित, नाशरहित तथा सकल प्रकार विकाररहित है इसलिये न कोई आत्माको मार ही सकता है और न कोई उसके मारनेमें किसी दूसरेको लगा ही सकता है। अतः अर्जुनको इस प्रकार शोकमोहग्रस्त नहीं होना चाहिये ॥ २१ ॥

आत्मा तो मरता नहीं, किन्तु वास्तवमें होता क्या है, यही बता रहे हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।२२

अन्वय—यथा (जिस प्रकार) नरः (मनुष्य) जीर्णानि वासांसि (पुराने फटे हुए वस्त्रोंको) विहाय (छोड़कर)

अपराणि (दूसरे) नवानि (नूतन वस्त्रोंको) गृह्णाति (पहिनता है), तथा (उसी प्रकार) देही (देहका स्वामी आत्मा) जीर्णानि शरीराणि (प्रारब्ध भोग द्वारा जीर्ण पुराने शरीरोंको) विहाय (त्याग करके) अन्यानि नवानि (दूसरे नये शरीरोंको) संयाति (पाता है)।

सरलार्थ—जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोड़कर नये ग्रहण करता है, उसी प्रकार शरीरका स्वामी आत्मा पुराने शरीरको त्यागकर नये शरीर धारण करता है।

चन्द्रिका—स्थूल शरीरका परिवर्तन ही जन्म मृत्यु है, आत्माका न जन्म है और न मृत्यु है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण, जीवके ये तीन शरीर होते हैं। इनमेसे स्थूल शरीर बदलता रहता है, सूक्ष्म और कारण बदलते नहीं। जीव जो कुछ कर्म करता है उसका संस्कार सूक्ष्म शरीरमें अङ्कित हो जाता है और, उसीके भोगके लिये भोगायतनरूपी स्थूल शरीर जीवको मिलता रहता है। इस प्रकारसे प्रारब्ध कर्मभोग जब एक शरीरमे समाप्त हो जाता है तब जीव उस शरीरको छोड़कर नवीन प्रारब्ध भोगके लिये नवीन शरीरको प्राप्त कर लेता है। इस छोड़ने और पानेको मृत्यु तथा जन्म कहा जाता है। इसमे स्थूल शरीरका ही परिवर्तन होना है, आत्माका कुछ नहीं होता है। यही इस श्लोकका तात्पर्य है। इसमें कोई कोई यह भी अनुमान करते हैं कि जब जीव वस्त्र बदलनेकी तरह शरीर बदल लेता है, तो एक मनुष्यशरीर छोड़ते ही दूसरा मनुष्य शरीर मिल जाता है, स्वर्ग नरक आदि कुछ नहीं है, यही इस श्लोकसे सिद्ध हुआ। किन्तु ऐसा अनुमान करना

ठीक नहीं है। क्योंकि इस श्लोकमें केवल शरीर बदलनेकी बात ही बतायी गई है वह नवीन शरीर किस योनिमें मिलता है, कर्मानुसार प्रेतयोनिमें मिलता है, या देवयोनिमें मिलता है, या मनुष्ययोनिमें मिलता है यह कुछ भी नही बताया गया है। वेदमें भी लिखा है— 'अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा' अर्थात् एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर या और भी उत्तम पितृलोकका शरीर, गन्धर्वलोकका शरीर, देवलोकका शरीर या प्रजापतिलोकका शरीर जीवको प्राप्त होता है। उन लोकोंमें भोगद्वारा कर्मक्षय होनेपर पुनः जीवका मनुष्यलोकमें जन्म होता है। इसीको आवागमन कहते है ॥ २२ ॥

इस प्रकारसे शरीरका परिवर्तन होनेपर भी आत्मा अविकारी तथा एकरूपमें ही रहता है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

अन्वय—शस्त्राणि (शस्त्रसमूह) एनं (आत्माको) न छिन्दन्ति (काट नहीं सकते) पावकः (अग्नि) एनं (आत्माको) न दहति (जला नहीं सकती) आपः च (जल भी) एनं न क्लेदयन्ति (आत्माको गला नहीं सकता) मारुतः (वायु) न

शोषयति (आत्माको नहीं सुखा सकती) अयं (आत्मा) अच्छेद्यः (काटे जाने लायक नहीं) अयं (आत्मा) अदाह्यः (जलाये जाने लायक नहीं) अक्लेद्यः (गलाये जाने लायक नहीं) अशोष्यः च एव (और सुखाये जाने लायक भी नहीं)। अयं (आत्मा) नित्यः (नित्य) सर्वगतः (व्यापक) स्थाणुः (स्थिर स्वभाव) अचलः (अचल) सनातनः (सदा रहनेवाला है)। अयं (आत्मा) अव्यक्तः (इन्द्रियोंके अगोचर) अयं (आत्मा) अचिन्त्यः (मन बुद्धिके अगोचर) अयं (आत्मा) अविकार्यः (अविकारी) उच्यते (कहलाता है), तस्मात् (इसलिये) एवं (पूर्वोक्त रूपसे) एनं (आत्माको) विदित्वा (जानकर) अनुशोचितुं न अर्हसि (तुम्हें शोक नही करना चाहिये)।

सरलार्थ—आत्माको अस्त्रशस्त्रादि छेदन नहीं कर सकने, अग्नि दग्ध नही कर सकती, जल गला नहीं सकता और वायु शुष्क नहीं कर सकती। इसलिये आत्मा न कटनेवाला, न जलनेवाला, न गलनेवाला और न सूखनेवाला है। यह नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर स्वभाव, अचल और चिरन्तन है अर्थात् न किसी कारणसे उत्पन्न ही हुआ है और न किसी कारणसे नष्ट ही हो जायगा। यह न दश इन्द्रियोंका ही गोचर है और न मन बुद्धिका ही गोचर है और न दुग्धसे दही घी आदिकी तरह विकार ही प्राप्त हो सकता है। अतः इसको ऐसा ही जान कर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

चन्द्रिका—आत्माके इन लक्षणोंको वार वार भिन्न भिन्न शब्दोंसे कहनेका तात्पर्य यह है कि अति दुर्बोध्य आत्माके विषयमें पुनः पुनः समझाने पर ही जिज्ञासुके हृदयमें उसकी धारणा उत्पन्न हो सकती है। संसारमें साकार वस्तुके लिये ही अस्त्रसे छेदन, अग्निसे दाहन आदि सम्भव हो सकता है, आत्मा निराकार है, इस कारण वह छेदन दाहन आदिका पात्र नहीं वन सकता है, और इसी कारण आत्माको परवर्त्ती श्लोकमें अच्छेद्य, अदाह्य आदि कहा गया है। आत्मा सर्वव्यापी है, इस कारण स्थिर स्वभाव है और स्थिर स्वभाव है इस कारण अचल है क्योंकि जो वस्तु देशकालके द्वारा सीमावद्ध होती है उसमें चाञ्चल्य अवश्य रहता है। शाखाहीन वृक्षको 'स्थाणु' कहते हैं। शाखाहीन होनेसे वह हिलता नहीं, आत्मा ऐसा ही स्थिर स्वभाव है। यथा वेदमें—'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः' अद्वितीय आत्मा शून्यमें शाखाहीन वृक्षकी तरह स्तब्ध अर्थात् निश्चल है। अब इसमें प्रश्न यह हो सकता है कि जब पूर्वश्लोकमे 'देही'को शरीरसे शरीरान्तरमें जाते कहा गया है तो इस श्लोकमें उसे अचल तथा स्थिर कैसे कहा जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि वास्तवमें आत्मा अचल तथा स्थिर है, क्योंकि सर्वव्यापक वस्तु कहींसे कहीं जा नहीं सकती। केवल भ्रान्त अन्तःकरणकी भावनाके अनुसार ही शास्त्रमें आत्माका जाना आना वताया जाता है। अन्तःकरणकी ओरसे आत्माका यह बन्धन तथा आवागमन आभिमानिक है वास्तविक नहीं है। जिस दिन शुद्ध तथा योगयुक्त अन्तःकरणमें यह पता लग जाता है कि आत्माका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है, और न अन्तःकरणके सुख दुःखमें आत्मा सुखी दुखी होता है, वह तो इससे परे है, उसी दिन जीवकी मुक्ति

हो जाती है। यही इसमें तथ्य हे। किन्तु इस तथ्यका शीघ्र पता लगाना सम्भव न होनेके कारण ही संसारमें इतने धर्ममतकी सृष्टि हो गई है। जो सदासे एकरूप रहे, न किसी कारणसे बने या नष्ट होवे उसे 'सनातन' या चिरन्तन कहते हैं। आत्मा ऐसा ही सनातन है। संसारमें 'सावयव' पदार्थ ही इन्द्रियोंके गोचर, मनके गोचर तथा दूधसे दधि, मक्खन आदिकी तरह विकारको प्राप्त हो सकते हैं। आत्मा सावयव अर्थात् साकार नहीं है, अतः अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा प्रकाशित न होनेवाला, अचिन्त्य अर्थात् चिन्तासे न पाये जाने वाला और विकृत न होनेवाला है। आत्माको ऐसा जानने पर शोक करना सम्भव नहीं हो सकता। इसीलिये श्रीभगवान् अर्जुनको आत्माके विषयमें ऐसी तीव्र धारणा करके शोकशून्य होनेका उपदेश कर रहे हैं। किन्तु आत्मा 'अच्छेद्य' 'अदाह्य' है, इसलिये किसीको मार देनेमें कोई हानि नहीं है, इस प्रकार भ्रान्त विचारसे हत्याकाण्डका विस्तार नहीं होना चाहिये। क्योंकि जब तक 'मैं मारता हूं' यह अभिमान है, तब तक मारनेका पाप अवश्य ही लगता है। इसीलिये श्रीभगवान्ने आगे जाकर कहा है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

जिसको 'मैं मारता हूं' यह अहंकार नहीं है और जिसकी बुद्धि मारनारूप व्यापारमें अभिमान द्वारा लिप्त नहीं होती है, ऐसा मुक्तात्मा किसीको मारने पर भी बद्ध नहीं होता है। बद्ध जीवको हत्या आदिसे पाप अवश्य ही लगता है। अर्जुनके इस प्रकार मुक्तात्मा न होने पर भी स्वधर्मपालनजन्य उनको युद्धमें शत्रुनाश करने पर भी पाप नहीं लग

सकता था। इस कारण श्रीभगवान्‌ने आत्माके स्वरूपकी धारणा कराकर उनका शोक नाश कर दिया और स्वधर्मपालनके लिये कर्त्तव्य बताया ॥२३-२५॥

अब प्रसङ्गोपात्त विरुद्ध युक्ति द्वारा भी अर्जुनका शोक नाश करा रहे हैं—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो! नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

अन्वय—अथ च (अथवा यदि) एनं (आत्माको) नित्यजातं (प्रत्येक शरीरके साथ उत्पन्न) नित्यं वा मृतं (और प्रत्येक शरीरनाशके साथ नष्ट) मन्यसे (तुम मानते हो), तथापि (तौभी) हे महाबाहो! (हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन!) त्वं (तुम) एवं (इस प्रकार) शोचितुं न अर्हसि (शोक करने योग्य नहीं हो)। हि (क्योंकि) जातस्य (उत्पन्न जीवका) मृत्युः ध्रुवः (मरना निश्चय है) मृतस्य च (और मृत जीवका) जन्म ध्रुवं (पुनः जन्म होना निश्चय है), तस्मात् (इस कारण) अपरिहार्ये अर्थे (जन्ममृत्युरूप अवश्य होनेवाले विषयमें) त्वं शोचितुं न अर्हसि (तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये)।

सरलार्थ—अथवा यदि तुम आत्माको नित्य न मानकर प्रत्येक शरीरके साथ उत्पन्न तथा विनष्ट मानते हो, तो भी हे महाबाहो! तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। क्योंकि जो

जन्मता है वह निश्चय ही मरता है और जो मरता है उसीका पुनर्जन्म भी निश्चय है, इसलिये इस अवश्यम्भावी विषयमें तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

चन्द्रिका—ये दो श्लोक प्रसङ्गोपात्त कहे गये हैं। इसमें तात्पर्य यही है कि आत्माको नित्य मानें या अनित्य किसी प्रकारसे भी शोक करना युक्त नहीं है। आत्माका यथार्थ स्वरूप पहले श्लोकमें कहा ही गया है। 'महाबाहो' सम्बोधन द्वारा यही बताया गया है कि तुम पुरुषश्रेष्ठ हो तुम्हें आत्माके विषयमें ऐसा विरुद्ध विचार तो करना नहीं चाहिये, किन्तु यदि ऐसा ही करो तौ भी शोक करना युक्तियुक्त नहीं हो सकता ॥२६-२७॥

अब इसी विषयको और भी व्यापकरूपसे सांख्य शास्त्रके सिद्धान्तानुसार कह रहे हैं—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत !।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

अन्वय—हे भारत ! (हे अर्जुन !) भूतानि (समस्त प्राणि) अव्यक्तादीनि (उत्पत्तिसे पहिले अप्रकट ही रहते हैं) व्यक्तमध्यानि (बीचमें प्रकट हो जाते हैं) अव्यक्तनिधनानि एव (पुनः नाशके बाद अप्रकट हो जाते हैं) तत्र (उसमें) का परिदेवना (शोक करनेकी क्या बात है ?)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! सभी जीव सृष्टिसे पहिले अप्रकट रहते हैं, बीचमें अर्थात् संसारकी स्थिति दशामें कुछ समय तक प्रकट रहते हैं और अन्तमें पुनः प्रलयके गर्भमें

अप्रकट हो जाते हैं, इसमें शोक या विलाप करनेका क्या विषय है ?

चन्द्रिका—श्लोकमें 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' शब्द सांख्य दर्शनके सिद्धान्तानुसार दिया गया है। इसका सिद्धान्त यह है कि किसी वस्तुका नाश नहीं होता है, नाशः कारणलयः (सां० सूत्र) अर्थात् कार्यरूपी वस्तुका अपने कारणमें लय हो जाना ही नाश कहलाता है। वस्तु नष्ट नहीं होती है, केवल कारणमें छिप जाती है और पुनः कारणसे हो प्रकट हो जाती है। इसीको अव्यक्त और व्यक्त कहते हैं। इसी विचारके अनुसार समस्त जीव सृष्टिसे पहिले अपने अपने कारणमें छिपे हुए थे, स्थिति दशामें कुछ समयके लिये प्रकट हुए है और पुनः प्रलयके समय स्व स्व कारणमें छिप जांयगे। यही विश्वरचनाका स्वरूप है। अतः इस स्वाभाविक सृष्टि स्थिति प्रलय क्रमको देखते हुए किसीके लिये शोक करना वृथा है। इसीको महाभारतके स्त्रीपर्वमें कहा गया है यथा—

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः।
नासौ तव न तस्य त्वं वृथा का परिदेवना॥

जीव सब अदृश्य थे, दृश्य हुए हैं और पुनः अदृश्य हो जायेंगे, ये तुम्हारे नहीं हैं और तुम भी इनके नहीं हो। अतः वृथा क्यों शोक करते हो। 'भारत' सम्बोधनका तात्पर्य यह है कि ऐसे उत्तम भरतवंशमें उत्पन्न होकर तुम्हें ये सब तत्त्वकी बातें समझनी चाहिये और शोकमोहसे मुक्त होना चाहिये ॥ २८ ॥

किन्तु ऐसा प्रायः होता नहीं है, जीव शोक मोहमें मुग्ध देखे ही जाते हैं, इसमें आत्मतत्त्वविषयक अज्ञान ही कारण है—

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनं,
आश्चर्यवद्व वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति,
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २६ ॥

अन्वय—कश्चित् (कोई कोई) एनं (आत्माको) आश्चर्यवत् (अद्भुत वस्तु जैसे) पश्यति (देखता है) तथा एव च (और ऐसा ही) अन्यः (दूसरा कोई) आश्चर्यवत् (अद्भुत वस्तु जैसे) वदति (बोलता है) अन्यः च (और भी कोई) एनं (आत्माको) आश्चर्यवत् (आश्चर्य जैसे) शृणोति (सुनता है) श्रुत्वा अपि च (किन्तु इस प्रकार सुनकर बोलकर देखकर भी) कश्चित् एव एनं (कोई भी आत्माको) न वेद (यथार्थ रूपसे नहीं जान पाता है)।

सरलार्थ—कोई कोई आत्माको अद्भुत वस्तु जैसे देखता है, दूसरा कोई ऐसा ही कहता है, तीसरा कोई ऐसा ही सुनता है, किन्तु सुनने, बोलने, देखने पर भी इसके यथार्थ स्वरूपका जाननेवाला विरल ही एक आध होता है।

चन्द्रिका—आत्माके स्वरूपके विषयमे अनुकूल प्रतिकूल अनेक युक्तियोंके द्वारा समझा कर अन्तमे श्रीभगवान् कहते है कि तुम्हे क्या दोष देवें आत्माके विषयमे प्रायः सभीकी ऐसी भ्रान्ति रहती है और इसी कारण संसारमे इतना शोक मोह है। कोई कोई तो 'आत्मा साकार भी है, निराकार भी है, हाथ नहीं तौ भी पकड़ता है, आंख नहीं तौ भी देखता है, कान नहीं तौ भी सुनता है, पास भी है दूर

भी है' इत्यादि परस्पर विरुद्ध बातोंको शास्त्रमें पढ़ कर आश्चर्य जैसे ही आत्माको देखता है, कोई कोई ऐसा ही कहता है और तीसरा कोई ऐसा सुनता है, किन्तु इस प्रकार देखने, कहने तथा सुनने पर भी आत्माका यथार्थ स्वरूप जाननेवाला संसारमें बहुत ही विरल है। इस श्लोकमें 'न वेद' शब्दका यही अर्थ है कि लाखोंमें एक आध कोई भाग्यवान् पुरुष आत्माको जान लेता है। 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये' हजारों मनुष्योंमेंसे विरल ही किसी किसीकी चेष्टा आत्मलाभके लिये होती है इत्यादि वचनोंके द्वारा श्रीभवान्‌ने ही आत्माकी परम दुर्लभता बता दी है। तथापि श्रेष्ठ वंशोद्भव तथा प्रारब्धवान् होनेके कारण अर्जुनको आत्माके स्वरूपके विषयमें धारणा करके शोकमुग्ध नहीं होना चाहिये यही आशय है॥ २९॥

इसी आशयको उपसंहारमें व्यक्त करते हैं—

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत!।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥३०॥

अन्वय—हे भारत! (हे श्रेष्ठ भरतवंशज अर्जुन!) अयं देही (शरीरका प्रभु यह आत्मा) सर्वस्य देहे (सबके देहमें) नित्यं (सदा) अवध्यः (वध किये जाने वाला नहीं है) तस्मात् (इसलिये) त्वं सर्वाणि भूतानि शोचितुं न अर्हसि (तुम्हें किसी भी जीवके लिये शोक करना उचित नहीं है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! सबके शरीरमें रहनेवाला शरीरका प्रभु आत्मा सदा अवध्य है। इसलिये भीष्मादि किसीके लिये भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

चन्द्रिका—अविकारी, निराकार, नित्य आत्माके विषयमें इतने विचारके द्वारा जब यही निश्चय हुआ कि, शरीरके नाशमें आत्माका नाश नहीं होता है और संसारमें सभो जीवोंके विषयमें यही नित्य सत्य सिद्धान्त है तो 'भीष्म द्रोणादिको मैं कैसे मारूंगा, गुरुओंका नाश कैसे किया जा सकता है' इत्यादि शोकमोहके द्वारा आच्छन्न होकर अपने वर्णगत कर्त्तव्यसे विमुख होनेका कोई भी कारण अर्जुनको नहीं हो सकता है। अतः आत्माके विषयमें ऐसी ही धारणा करके अर्जुनको स्वधर्म-पालन करना चाहिये यही अन्तिम निष्कर्ष है ॥ ३० ॥

उत्तमाधिकारका इतना विवेक बता कर अब मध्यमाधिकारका विवेचन कर रहे हैं—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

अन्वय—स्वधर्मं अपि च (अपने क्षत्रियधर्मको भी) अवेक्ष्य (देखकर) न विकम्पितुं अर्हसि (तुम्हें विचलित नहीं होना चाहिये) हि (क्योंकि) धर्म्यात् युद्धात् (धर्म-युद्धके अतिरिक्त) क्षत्रियस्य (क्षत्रियका) अन्यत् (दूसरा कुछ) श्रेयः (कल्याणकारी) न विद्यते (नहीं है)।

सरलार्थ—तत्त्वविचारके अतिरिक्त यदि अपने क्षत्रिय-धर्मकी ओर भी देखो तो भी तुम्हें अपने कर्त्तव्यपथसे विच-लित नहीं होना चाहिये, क्योंकि धर्मयुद्धके सिवाय क्षत्रिय जातिके लिये कल्याणकी वस्तु और कुछ भी नहीं है।

चन्द्रिका—प्रथम आत्माके अ[redacted]

में यथेष्ट प्रकाश डाल कर श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको समझा दिया कि शोक मोहमें मग्न होकर युद्धसे उन्हें निवृत्त नहीं होना चाहिये। अब यह कहते हैं कि यदि उतना उच्च विचार न किया जाय तौ भी केवल अपनी जातिका कर्त्तव्य देखते हुए अर्जुनको धर्मपालनसे डिगना या हिम्मत हारना नहीं चाहिये, क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुद्ध परम श्रेयस्कर वस्तु है। श्रीभगवान् मनुने भी कहा है—

समोत्तमाधमैः राजा चाहूतः पालयन् प्रजाः।
न निवर्त्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्॥

समान समान, उत्तम या अधम किसी योद्धाके द्वारा भी बुलाये जाने पर क्षत्रिय राजाको प्रजा पालन तथा क्षात्रधर्मरक्षाके विचारसे संग्रामसे विमुख नहीं होना चाहिये। महर्षि पराशरने भी कहा है—

क्षत्रियो हि प्रजा रक्षन् शस्त्रपाणिः प्रदण्डवान्।
निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्॥

प्रजारक्षा करते हुए क्षत्रियोंको हाथमें शस्त्र लेकर शत्रुकी सेनाओंको मारकर धर्मानुसार पृथिवी पालन करना चाहिये। क्षत्रिय वीरके लिये शास्त्रमें जब यह धर्म बताया गया है तो अर्जुनको शोकमोहग्रस्त न होकर धर्मयुद्धमें प्रवृत्त होना उचित है॥२१॥

इस विषयमें और भी कह रहे हैं—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ! लभन्ते युद्धमीदृशम्॥२२॥

अन्वय—हे पार्थ! (हे अर्जुन!) यदृच्छया च (आपसे आप) उपपन्नं (प्राप्त) अपावृतं (खुले हुए) स्वर्गद्वारं (स्वर्गके

द्वार रूपी) ईदृशं युद्धं (इस प्रकारके युद्धको) सुखिनः क्षत्रियाः (भाग्यवान् क्षत्रियगण) लभन्ते (पाते हैं) ।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! बिना मागे आपसे आप प्राप्त खुला हुआ स्वर्गद्वाररूपी इस प्रकार धर्मयुद्ध विशेष सौभाग्य-से ही क्षत्रियको मिलता है ।

चन्द्रिका—श्रीभगवान् मनुने कहा है—

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥

युद्धमें मुख न मोड़ कर क्षत्रिय नरपतिगण परस्पर अस्त्रप्रहार करते हुए उत्तम स्वर्ग लाभ करते हैं । अतः धर्मयुद्ध स्वर्गका खुला हुआ द्वार है इसमें सन्देह नहीं। और यह धर्मयुद्ध भी बिना प्रार्थना किये ही मिला, क्योंकि पाण्डवोंने तो स्वयं युद्धमें कुटुम्बनाश करना नहीं चाहा था, बल्कि जीविकाके लिये पांच गांव मात्र लेकर वे सन्तुष्ट होना चाहते थे । किन्तु उसपर भी जब दुर्योधनने बिना युद्धके नहीं माना तो युद्धकी प्रेरणा कौरवोंकी ओरसे ही हुई । इस प्रकार आपसे आप प्राप्त धर्मयुद्ध-का मौका भाग्यवान् क्षत्रियको ही मिलता है । अतः इहलोक परलोकमें सुखदायी तथा कीर्तिदायी धर्मयुद्धसे अर्जुनको विमुख नहीं होना चाहिये यही श्रीभगवान्का उपदेश है ॥ २२ ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्त्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥
अकीर्त्तिञ्चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषाञ्च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥
अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय! युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

अन्वय—अथ चेत् (इसलिये यदि) त्वं (तुम) धर्म्यं (धर्मसे युक्त) इमं संग्रामं (इस युद्धको) न करिष्यसि (नहीं करोगे), ततः (तो) स्वधर्मं (अपने क्षत्रियधर्मको) कीर्त्तिं च (और यशको) हित्वा (त्याग करके) पापं अवाप्स्यसि (पापको पाओगे)। अपि च (इसके सिवाय, और भी) भूतानि (सब लोग) ते (तुम्हारे) अव्ययां (स्थायी) अकीर्तिं (अपयशको) कथयिष्यन्ति (कहेंगे) सम्भावितस्य (मानी पुरुषका) अकीर्तिः (अपयश) मरणात् (मृत्युसे) अतिरिच्यते (अधिक होता है)। महारथाः च (दुर्योधनादि महारथगण भी) त्वां (तुम्हें) भयात् (भयके कारण) रणात् (युद्धसे) उपरतं (निवृत्त) मंस्यन्ते (समझेंगे) येषां (जिनके) त्वं (तुम) बहुमतः भूत्वा (बहुमान्य होकर भी अब) लाघवं यास्यसि (दृष्टिमें गिर जाओगे)। तव अहिताः (तुम्हारे शत्रुगण) तव सामर्थ्यं निन्दन्तः (तुम्हारी शक्तिकी निन्दा करते हुए) बहून् (अनेक) अवाच्यवादान् (तुम्हारे लिये जो कहना नहीं चाहिये ऐसे कुवाक्य) वदिष्यन्ति च (कहेंगे) ततः (उससे) दुःखतरं (अधिक दुःखकर) किं नु? (और क्या

हो सकता है ?) हतः वा स्वर्गं प्राप्स्यसि (युद्धमें हत होने पर भी स्वर्गलाभ करोगे) जित्वा वा महीं भोक्ष्यसे (और विजयी होने पर पृथ्वीका उपभोग करोगे) तस्मात् (इसलिये) हे कौन्तेय! (हे अर्जुन!) युद्धाय (युद्धके लिये) कृतनिश्चयः हृदयमें निश्चय करके) उत्तिष्ठ (उठो)।

सरलार्थ—इसलिये यदि तुम इस धर्मयुद्धसे विमुख रहोगे तो अपना क्षत्रियजातिधर्म तथा यशको खोकर पाप भागी बनोगे। लोग सब तुम्हारी अक्षय अपकीर्त्ति कहा करगे, और मानी व्यक्तिका अपयश मृत्युसे भी अधिक कष्टकर होता है। दुर्योधन आदि महारथिगण यही सोचेंगे कि तुमने कर्ण आदिसे डर कर लड़ना छोड़ दिया, इस प्रकारसे अब तक तुम्हारा जो उनके हृदयमें गौरव था सो मिट्टीमें मिल जायगा। तुम्हारे शत्रुगण भी तुम्हारी शक्तिकी निन्दा करते हुए कुत्सित भाषासे तुम्हारा अपवाद गावेंगे, इससे दुःखकर वस्तु और क्या हो सकती है ? यदि युद्धमें मृत्यु हुई तो तुम्हें स्वर्गलाभ होगा और यदि जीत गये तो पृथ्वीका राज्यभोग मिलेगा, अतः हे अर्जुन! हृदयमें युद्धके लिये ही निश्चय कर उठो।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमे श्रीभगवान्‌ने दो बात पर अर्जुनका ध्यान दिलाया है—एक स्वधर्मत्याग करने पर उन्हें पाप लगेगा और द्वितीय युद्धसे विरत होनेपर लोकमें उनकी बड़ी अकीर्त्ति होगी। मानी पुरुषका मान प्राणसे भी प्रियतर तथा मूल्यवान् है। महाभारतके उद्योग-पर्वमें श्रीभगवान्‌ने युधिष्ठिरसे कहा है—'महागुणो वधो राजन् न तु निन्दा

कुजीविका' यशस्वी पुरुषके लिये मृत्यु अच्छी है, किन्तु अपयश अच्छा नहीं है । अतः जिस कार्यमें स्वधर्मत्यागजन्य पाप भी है और इहलोकमें निन्दा भी है, ऐसा कार्य अर्जुनको कदापि नहीं करना चाहिये । इसके सिवाय युद्धमें मृत्यु अथवा विजय लाभ दोनोंमें ही अर्जुनको लाभ है— एकमें स्वर्गसुख लाभ, दूसरेमें लौकिक राज्यसुख लाभ । अतः सब ओर विचार करनेपर उनके लिये युद्ध करना ही सर्वथा युक्तियुक्त है यही श्रीभगवान्‌का उपदेश है ॥ ३३—३७ ॥

अब प्रासङ्गिक तथा आगे कहे जानेवाले विषयके सामान्य इङ्गितरूपसे कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

अन्वय—सुखदुःखे (सुख तथा दुःखको) समे कृत्वा (एकसा मानकर) लाभालाभौ जयाजयौ (लाभ हानि तथा जय पराजयको भी एकसा मान कर) ततः (तदनन्तर) युद्धाय युज्यस्व (युद्ध कार्यमें लग जाओ) एवं (ऐसा करने पर) पापं न अवाप्स्यसि (तुम्हें पाप नहीं लगेगा) ।

सरलार्थ—सुख दुःख, लाभ हानि, जय पराजय इन सबमें एकसा भाव रखकर स्वधर्मपालन बुद्धिसे युद्ध कार्यमें लग जाओ उससे तुम्हें पाप नहीं लगेगा ।

चन्द्रिका—यह उपदेश प्रासङ्गिक है क्योंकि इस प्रकार सुख-दुःख आदिमें समत्व बुद्धि न होने पर भी केवल स्वधर्मपालन बुद्धि रहनेसे ही अर्जुनको या अन्य किसी क्षत्रियको पाप नहीं लग सकता है, जैसा

कि पूर्वश्लोकोंमें कहा जा चुका है। यहां तो श्रीभगवान् द्वारा उन्हें समत्वबुद्धिरूपी कर्मयोग आरोहीसे बताना है जिसका फल निष्काम कर्मयोग द्वारा अन्तमें मोक्षलाभ है इसलिये उसीके सामान्य इङ्गितरूपसे यह उपदेश दिया गया॥ ३८॥

इङ्गित करनेके बाद अब प्रकृत विषय कहना प्रारम्भ करते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ! कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

अन्वय—सांख्ये (तत्त्वज्ञान योगके विषयमें) एषा (अबतक वर्णित) बुद्धिः (विचार) ते (तुम्हें) अभिहिता (मैंने बताया), योगे तु (अब कर्मयोगके विषयमें) इमां (आगे वर्णित विचारको) शृणु (सुनो), हे पार्थ! (हे अर्जुन!) यया बुद्ध्या युक्तः (जिस कर्मयोगबुद्धिके द्वारा युक्त होकर) कर्मबन्धं (कर्मके बन्धनको) प्रहास्यसि (त्याग करोगे)।

सरलार्थ—तुम्हारे कर्त्तव्यके विषयमें ज्ञानयोगके अनुसार अबतक विचार बताया, अब कर्मयोगके अनुसार बताता हूं सुनो। हे अर्जुन! इस कर्मयोग बुद्धिके द्वारा युक्त होकर यदि तुम कर्त्तव्य करोगे तो तुम्हें कर्मका बन्धन कदापि नहीं प्राप्त हो सकेगा।

चन्द्रिका—पहिले ही भूमिकामें कहा गया है कि अर्जुनको निमित्त बनाकर समस्त मुमुक्षुके कल्याणके लिये श्रीभगवान्ने गीतामें ज्ञानयोग, उपासनायोग, कर्मयोगकी सामञ्जस्यानुसार साधना बताई है। इन तीनों योगोंमेंसे ज्ञानयोगमें आत्मानात्म विचारकी मुख्यता

रहती है। आत्मा ही नित्य वस्तु है, बाकी सब सांसारिक पदार्थ अनित्य है, अतः आत्माकी नित्यताको समझ कर क्षणभङ्गुर शरीरके लिये शोक नहीं करना चाहिये, किन्तु वर्णाश्रमोचित अपना धर्मपालन करना चाहिये, इत्यादि इत्यादि ज्ञानयोगके उपदेश है। ज्ञानयोगमें कर्मकी मुख्यता नहीं रहती है, ज्ञानयोगी केवल प्रारब्धानुसार प्राप्त कर्मोंको करते हैं, कर्मका कोई खास अनुष्ठान नहीं करते और प्रारब्धका शेष होने पर उनके भोजन, स्नान आदि कर्म ही रह जाते हैं। यद्यपि भूमिकामें वर्णित विज्ञानके अनुसार तीनो योगोंका मिलित साधन ही विशेष कल्याणकर होता है, क्योंकि जैसा कि पहिले कहा गया है, एकके अभावमें दूसरे योगकी सिद्धिमे अनेक बाधाएं होनेकी आशंका रहती है, और इसीलिये 'सर्वभूतहिते रताः' आदि शब्दोंके द्वारा श्रीभगवान्‌ने ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका समुच्चय अर्थात् एक साथ साधन भी बताया है, तथापि प्रत्येक योगके भीतर अन्तिम सिद्धि दानका बीज विद्यमान है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। इनमेंसे ज्ञानयोगका वर्णन करके अब कर्मयोगका वर्णन करते है। कर्मयोगमें कर्मको योगबुद्धिसे करना होता है। नही तो वह कर्म 'अहंकार' 'मोह' आदि उत्पन्न करके बन्धनका हेतु हो जाता है। केवल व्यक्तिगत सुखको लक्ष्य करके जो कर्म किया जाता है, उसमें स्वार्थजन्य बन्धन तो अवश्य ही है इसके अतिरिक्त स्वार्थबुद्धिसे देशसेवादि कर्म भी बन्धनका ही कारण होता है। इसमें केवल स्वार्थ कुछ उदार हो जाता है अर्थात् देशके कल्याणद्वारा हमारा कल्याण तथा स्वार्थलाभ होगा यही बुद्धि रहती है। पश्चिम आदि आत्मविचार-शून्य देशोंमें इसी उदार स्वार्थबुद्धिसे लोग देशसेवादि कर्म करते हैं और इसी स्वार्थबुद्धिके कारण ही स्वजाति तथा स्वदेश सेवाके लिये वे परजाति तथा

परदेशपीड़न करनेमे सङ्कोच नहीं करते। यही कारण है कि उनका वह सब 'कर्मयोग' न होकर 'कर्मभोग' ही होता है और उसमें रागद्वेष, सुखदुःख, आशा नैराश्य, सिद्धि असिद्धि आदिके द्वन्द्व अर्थात् द्विधाभाव और विषमभाव सदा ही विद्यमान रहनेके कारण वह बन्धनका ही कारण बन जाता है। इसमे सिद्धिलाभ होने पर 'मैंने ही देशका उद्धार कर दिया' इस प्रकार अहंकारसूलक रजोगुणका बन्धन होता है और असिद्धि होनेपर नैराश्य' 'निश्चेष्टता' 'जड़ता' आदि जन्य तमोगुणका बन्धन होता है। किन्तु श्रीभगवान्‌के द्वारा बताये हुए कर्मयोगमें इस प्रकार रजोगुण, तमोगुणका अभाव रहनेसे यह 'योग' शुद्धसत्त्वगुणकी सहायतासे कर्मबन्धनको तोड़ कर कर्मयोगीको मुक्ति ही प्रदान करता है। गीतामें 'समत्वं योग उच्यते' ऐसा कहकर श्रीभगवान्‌ने जय अजय, सिद्धि असिद्धि, रागद्वेष आदिमें समता बुद्धि रखनेको ही 'योग' कहा है। यह 'सम' क्या वस्तु है इसके विषयमें भी गीतामें लिखा है—'निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः' अर्थात् रागद्वेषमय द्वन्द्वभावसे परे यह दोषहीन सम ब्रह्म ही है, अतः समत्व बुद्धिवाला कर्मयोगी ब्रह्ममें युक्त होकर ही कर्म करता है, इस प्रकार ब्रह्ममे रहनेके कारण ही इसका नाम 'योग' है। इस तरहसे ब्रह्ममे युक्त होकर फलाफलकी परवाह न करके कर्त्तव्य बुद्धिसे अथवा परमात्माकी प्रीतिके लिये अथवा विश्वको उनका रूप मानकर जगत्सेवा द्वारा परमात्माकी पूजारूपसे जो कुछ किया जाय उसीको योग अर्थात् कर्मयोग कहते है। इसमें व्यक्तिगतसेवा, देशसेवा या जगत्-सेवा कुछ भी हो, किसी प्रकारसे भी कर्मयोगीको बन्धन प्राप्त नहीं हो सकता है। यही ज्ञानयोग और कर्मयोगका समुच्चय तथा उपासना योगका साथ ही साथ मधुर संमिश्रण गीताका प्रतिपाद्य

विषय है जिसको 'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं' 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यं' इत्यादि श्लोकोंके द्वारा श्रीभगवान्‌ने स्थान स्थान पर बताया है ॥ ३९ ॥

अब इस कर्मयोगकी महिमा बता रहे हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

अन्वय—इह (इस कर्मयोगमें) अभिक्रमनाशः (प्रारम्भका विनाश) न अस्ति (नहीं है), प्रत्यवायः (बीचका विघ्न) न विद्यते (नहीं है) अस्य धर्मस्य (इस कर्मयोगरूपी धर्मका) स्वल्पं अपि (थोड़ा भी) महतः भयात् (भीषण भवभयसे) त्रायते (योगीको त्राण कर देता है) ।

सरलार्थ—इस कर्मयोगमें प्रारम्भका विनाश भी नहीं है और बीचमें कोई विघ्न भी नहीं है। इसका थोड़ा भी अनुष्ठान भीषण संसारभयसे जीवके उद्धारका कारण बन जाता है।

चन्द्रिका—इस श्लोकमें निष्काम कर्मयोगकी महिमा तथा सकाम कर्मसे उसकी श्रेष्ठता बताई गई है। खेती आदि कार्यमें वर्षादि न होने पर प्रारम्भमें ही खेतीका नाश हो सकता है, अथवा यज्ञादि सकाम कर्ममें यज्ञीय द्रव्योंके न मिलने पर प्रारम्भमें ही उसका नाश हो सकता है। द्वितीयतः प्रारम्भकी खेतीमें शिलावृष्टि, चूहे आदि द्वारा खेत खा जाना आदि बीचके विघ्न भी बहुत कुछ हो सकते हैं। इस प्रकार सकाम यज्ञादिमें भी मन्त्रोंका दुष्ट उच्चारण, अश्रद्धाके साथ या अविधिपूर्वक क्रिया आदिके द्वारा यज्ञके बीचमेंही बहुत कुछ विघ्न उपस्थित हो सकते हैं। किन्तु निष्काम कर्मयोगमें ऐसे प्रारम्भके या

बीचके कोई भी विघ्न होनेकी सम्भावना नहीं है। क्योंकि इसमें जब कोई अपना मतलब ही नहीं रहता, फलाफलकी परवाह भी नहीं रहती, केवल परमात्मामें युक्त रहकर उन्हींकी सेवारूपसे कार्य किया जाता है, तो इसमें जो कुछ किया जायगा उसीसे कर्मयोगी आत्माकी ओर तथा समाधिकी ओर अग्रसर होगा। अतः इसमें न प्रारम्भका नाश ही है और न बीचका विघ्न ही है। और इस तरहसे थोड़ा भी कर्मयोग बहुत फलप्रद होता है क्योंकि परमात्मामें युक्त होकर योगी जो कुछ करेगा उससे वह मुक्तिकी ओर ही आगे बढ़ेगा जिससे भवभयनाशमें मदद मिलेगी, यही इस श्लोकका तात्पर्य है ॥ ४० ॥

पुनरपि निष्कामयोगकी प्रशंसा तथा सकामसे उसकी श्रेष्ठता बता रहे हैं—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन ।
बहुशाखा ह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

अन्वय—हे कुरुनन्दन ! (हे अर्जुन !) इह (आध्यात्मिक कल्याणके मार्गमें) व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धिः एका (बुद्धि एक ही होती है) अव्यवसायिनां च (निश्चय भावशून्य व्यक्तियोंकी) बुद्धयः (बुद्धि) बहुशाखाः हि (अनेक शाखाओंसे युक्त अतः) अनन्ताः (अनेक प्रकारकी होती है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! जो बुद्धि आध्यात्मिक कल्याणपथमें निश्चय स्वभाव रहती है वह सदा एकमुखिनी ही होती है। किन्तु जिन कामनापरायण अविवेकियोंकी बुद्धिमें इस प्रकार

निश्चयता नहीं है उनकी बुद्धियां सकाम अनेक भावोंसे युक्त होनेके कारण अनन्त प्रकारकी होती हैं ।

चन्द्रिका—बुद्धि ज्ञानयोगमयी हो या निष्काम कर्मयोगमयी हो जिसका लक्ष्य आत्मा है वह बुद्धि एकमुखिनी ही होती है, क्योंकि ऐसी बुद्धिके द्वारा साधक अनन्त प्रकार कार्य करने पर भी सभीका एकही परिणाम चित्तशुद्धि द्वारा परमात्माकी प्राप्ति ही होता है । किन्तु सकाम-कर्मपरायण मनुष्योंका लक्ष्य एक ही आत्मा न होकर भिन्न भिन्न कर्मोंकी भिन्न भिन्न फलप्राप्ति होती है, इसलिये उनकी बुद्धिमे अनेक शाखा तथा अनेक प्रकार होते है । वे कभी धनलाभके लिये कुछ सकाम कर्म करते हैं, कभी स्वर्गलाभके लिये कुछ सकाम कर्म करते हैं, कभी पुत्रलाभके लिये पुत्रेष्टि यज्ञादि करते है । वेदके सकाम कर्मकाण्डमें तथा अनेक शाखाओंमें ऐसे अनेक सकाम यज्ञादि कर्मोंके वर्णन हैं । अतः इन कर्मोंमें फंसे हुए मनुष्योंकी बुद्धि 'व्यवसायात्मिका' न होकर 'बहुशाखा' तथा 'अनन्ता' होती है ॥ ४१ ॥

अब सकाम कर्मियोंकी बहुशाखायुक्त बुद्धिका वर्णन कर रहे हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

अन्वय—हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) अविपश्चितः (अविवेकी) वेदवादरताः (वेदके सकाम कर्मकाण्डकी बातोंमें रत) अन्यत् न अस्ति इति वादिनः (स्वर्गादि सुख देने वाले कर्मकाण्डके सिवाय और कुछ नहीं है ऐसा कहने वाले लोग) यां इमां (ये जो सब) पुष्पितां वाचं (सकाम कर्मफलके विषयमें मधुर सुन्दर बात) प्रवदन्ति (कहते हैं) कामात्मानः (कामपरायण) स्वर्गपराः (स्वर्गसुखको ही विशेष मानने वाले ऐसे जो लोग) जन्मकर्मफलप्रदां (जन्मरूपी कर्मफलको देने वाली) भोगैश्वर्य गतिं प्रति (भोग तथा ऐश्वर्यकी प्राप्तिके विषयमें) क्रियाविशेष बहुलां (प्रचुर क्रियाकाण्डसे युक्त बात कहते हैं) भोगैश्वर्यप्रसक्तानां (भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त) तया (सकाम कर्मकाण्डकी बातोंसे) अपहृतचेतसां (मुग्ध चित्त उन मनुष्योंकी) व्यवसायात्मिका बुद्धिः (निश्चयात्मिका बुद्धि) समाधौ (निष्काम योगमें) न विधीयते (नहीं ठहरती है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! अविवेकी, कामपरायण, स्वर्गादि सुखको ही प्रधान माननेवाले, वैदिक सकामकर्मकाण्डमें मुग्ध होकर उसके अतिरिक्त और कुछ भी सेव्य नहीं है ऐसा कहने वाले जो लोग प्रारम्भमें मधुर सकाम कर्मफलके विषयमें मीठी बात करते हैं और पुनः पुनः जननमरणकारी भोग सम्पत्ति देनेवाली वैदिक क्रियाकाण्डके विषयमें भी बात करते हैं, सकाम भोगऐश्वर्यमें आसक्त कर्मकाण्डमें हतचित्त उन व्यक्तियोंकी बुद्धि निष्काम योगमें निश्चिन होकर नहीं ठहरती है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें सकाम कर्मियोंकी बुद्धिकी दशा बताई गई है। इसके विषयमें मुण्डक श्रुतिमें लिखा है—

इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढ़ाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥

सकाम कर्मकाण्डी लोग स्वर्गभोग दिलानेवाले इष्टापूर्त्त आदि यज्ञको ही सर्वोत्तम समझते हैं। इसका फल यह होता है कि सकाम यज्ञके द्वारा थोड़े समय स्वर्गसुख लाभ होनेके वाद उन्हें पुनः मनुष्य-योनि अथवा इससे भी हीन पशु आदि योनि मिलती है। अतः बुद्धिमान् दूरदर्शी जनको प्रारम्भमें मधुर किन्तु अन्तमें दुखदायी सकाम कर्मकाण्डमें फँसना नहीं चाहिये। किन्तु नश्वर सुखमें मुग्ध सकाम जीव इस उपदेशको प्रायः मानते नहीं हैं। वे वैदिक सकाम कर्मकाण्डमें ही फँसे रहते हैं और उसीकी प्रशंसा करते रहते हैं। इस प्रकारसे उनकी बुद्धि 'बहुशाखा' तथा 'अनन्त' सकाम भावसे युक्त होनेके कारण निष्काम, आत्मारूपी परम फलको प्राप्त करानेवाले योगमें निश्चल होकर ठहरती नहीं है। यही इन श्लोकोंका निष्कर्ष है ॥४२-४४॥

सकामकर्मकी वुराइयां बताकर अब अर्जुनको निष्काम होनेका उपदेश कर रहे हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

अन्वय—वेदा (वेदसमूह) त्रैगुण्यविषयाः (तीन गुणके सकाम विषयोंसे पूर्ण हैं) हे अर्जुन! (हे अर्जुन!) निस्त्रैगुण्यः भव (तुम निष्काम हो जाओ) निर्द्वन्द्वः (राग

द्वेषादि द्वन्द्वसे रहित) नित्यसत्त्वस्थः (सदा सत्त्वगुणमें स्थित) निर्योगक्षेमः (योगक्षेमसे रहित) आत्मवान् (आत्मनिष्ठ हो जाओ)।

सरलार्थ—वेद सांसारिक त्रिगुणमय सकाम कर्मोंसे भरे पड़े हैं, हे अर्जुन! तुम निष्काम हो जाओ और इसलिये रागद्वेषादि द्वन्द्वोंसे शून्य, सदा सत्त्वगुणमें स्थित, योगक्षेमकी चिन्तासे रहित तथा आत्मनिष्ठ बने रहो।

चन्द्रिका—वेदके ब्राह्मणभागमें सत्त्व रजः तमोगुणमय अनेक प्रकारके सकाम यागयज्ञोंका विधान है इसमें सन्देह नहीं। किन्तु ये ही सब कर्म ईश्वरार्पणबुद्धिसे निष्काम होकर करनेपर इनके द्वारा चित्त-शुद्धि तथा आत्मोन्नति अवश्य होती है। जैसा कि गीताके १७ वें अध्यायमें सात्त्विक यज्ञका लक्षण वर्णन करते हुए श्रीभगवान्‌ने स्वयं ही कहा है। इसलिये यहां पर वैदिक कर्मोंकी निन्दा नहीं समझनी चाहिये, केवल सकाम भावकी ही निन्दा है। और ऐसी निन्दा वेदके ज्ञानकाण्ड-रूपी उपनिषदमें भी की गई है जैसा कि 'इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं' इत्यादि मन्त्रमें पहिले ही बताया गया है। श्रीमद्भागवतके ११ वें स्कन्धमें भी लिखा है—

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥

आसक्ति रहित होकर फलाफल ईश्वरमें समर्पित करते हुए वेदविहित कर्मोंको करने पर भी परम सिद्धि लाभ हो सकता है, वेदमें कुकर्मी जीवोंको विहित कर्ममें प्रवृत्त करनेके लिये ही सकाम यज्ञादि कर्मोंकी

इतनी स्तुति की गई है । यही कारण है कि इस श्लोकमें श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको कर्मत्याग करनेका उपदेश न देकर 'निस्त्रैगुण्य' शब्दके द्वारा केवल निष्काम होनेको कह रहे हैं । विना राग द्वेष आदि द्वन्द्वोंके जीते मनुष्य निष्काम नहीं बन सकता है, अतः अर्जुनको 'निर्द्वन्द्व' होनेको कहा है । त्रिगुणसे अतीत होनेके लिये प्रथमतः सत्त्वगुणके द्वारा रजोगुण तमोगुणको जीतना पड़ता है, पश्चात् सत्त्वगुणको भी त्याग देकर साधक निस्त्रैगुण्य बन सकता है, इसलिये अर्जुनको 'नित्यसत्त्वस्थ' होनेको कहा गया है । अप्राप्त वस्तुके पानेका नाम 'योग' है और पायी हुई वस्तुकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है, यही योगक्षेमका अर्थ है । विषयी लोग हो इस प्रकार योगक्षेमके धन्धेमें लगे रहते हैं । इसलिये अर्जुनको योगक्षेम-रहित होनेका उपदेश दिया गया है । बिना आत्मनिष्ठ हुए मनुष्योंमें इन-मेंसे कोई भी गुण नहीं आ सकता । आत्मनिष्ठ व्यक्तिका योगक्षेम भगवान् ही वहन करते हैं । उन्होंने स्वयं ही कहा है—

'तेषां सततयुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्'

मुझमें सदा रत भक्तका योगक्षेम मैं ही चलाया करता हूं । अतः निष्काम कर्मयोगीके लिये 'आत्मवान्' होना नितान्त आवश्यक है ॥४५॥

अब इसमें यदि कोई शंका करे कि सकाम कर्म छोड़ देने पर तज्जन्य स्वर्गादि सुखसे जीवको वञ्चित रहना पड़ेगा तो इसके समाधानमें कहते हैं—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

अन्वय—सर्वतः (चारो ओर) संप्लुतोदके (जल भर

जानेपर) उदपाने (कूप आदि छोटे जलाशयोंमें) यावान् अर्थः (जितना प्रयोजन रहता है), विजानतः ब्राह्मणस्य (ब्रह्मतत्त्वज्ञ ब्राह्मणका) सर्वेषु वेदेषु (सकाम कर्मकाण्ड-सम्बन्धीय वेदोंमें) तावान् (उतना ही प्रयोजन रहता है) ।

सरलार्थ—बाढ़, नदी या समुद्र आदिके द्वारा सर्वत्र जल भर जानेपर कूएं आदि छोटे जलाशयोंका जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मतत्त्वके जाननेवाले पुरुषके लिये वेदके सकाम कर्मकाण्डका उतना ही प्रयोजन रहता है, अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता है।

चन्द्रिका—इस श्लोकमे यही भाव वताया गया है कि निष्काम कर्मयोगके द्वारा आनन्दमय आत्माके राज्यमे पहुचनेवाले योगीको वैदिक सकाम कर्मोंके नाशवान् सुखके लिये लालायित होनेका प्रयोजन नहीं रहता। इसमें दृष्टान्त यही दिया गया है कि जिस प्रकार चारों ओर बाढ़ आदिके आ जानेपर नहाने पीने आदिका यथेष्ट जल मिलनेसे कूएसे कष्ट करके पानी खींचनेकी आवश्यकता नहीं रहती, ठीक उसी प्रकार असीम ब्रह्मानन्द समुद्रमें गोता खानेवाले ब्रह्मज्ञ पुरुषोंको सकाम कर्मोंके झगड़ेमें नहीं पड़ना पड़ता। क्योंकि असीम आनन्दमें छोटे मोटे सभी आनन्द समाये जाते हैं। श्रुतिमें भी लिखा है—'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' अर्थात् ब्रह्मानन्द पूर्ण तथा असीम है, जीवगण सकाम कर्मोंके द्वारा उसी पूर्णका अंशमात्र उपभोग करते है। ब्रह्मका असल आनन्द आकाशमें स्थित सूर्यके प्रकाशकी तरह है और विषयका सुख जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यके प्रकाशकी तरह है। असीम ब्रह्मानन्द ही प्रकृतिके सात्त्विक तरङ्गमे प्रतिबिम्बित होकर प्रेम, भक्ति

आदिके सुखरूपसे, राजसिक तरङ्गमें प्रतिविम्बित होकर काम, लोभ आदि जन्य सुखरूपसे, और तामसिक तरङ्गमें प्रतिविम्बित होकर मोह, निद्रा आदि जन्य सुखरूपसे प्रतीत होता है। यह सभी प्रतिविम्बित आनन्द अर्थात् छाया सुखमात्र है। किन्तु वास्तविक ब्रह्मानन्दके मिलने पर इन छायासुखोंकी कोई भी आवश्यकता नहीं रहती। इसीलिये पाण्डवगीतामें लिखा है—'तृपितो जाह्नवीतीरे कूपं वाञ्छति दुर्मतिः' पवित्रसलिला गङ्गाके तट पर प्यास मिटानेके लिये कूआं खोदना मूर्खतामात्र है। अतः वैदिक यज्ञ हो या और भी किसी प्रकारका कर्म हो, योगीको निष्कामभावसे उसका अनुष्ठान करके असीम आनन्दमय ब्रह्मपदमें विराजमान होना चाहिये यही तात्पर्य है ॥ ४६ ॥

अब वह निष्काम कर्म कैसे किये जाना चाहिये उसीका स्वरूप कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

अन्वय—कर्मणि एव (कर्म करनेमें ही) ते (तुम्हारा) अधिकारः (अधिकार है) कदाचन (कभी) फलेषु मा (फलमें अधिकार नहीं है) कर्मफलहेतुः (फलकी आकांक्षासे कर्म करनेवाला) मा भूः (तुमको नहीं होना चाहिये), अकर्मणि (कर्मके न करनेमें) ते सङ्गः (तुम्हारी इच्छा) मा अस्तु (नहीं होनी चाहिये)।

सरलार्थ—तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करनेमें ही है, उसके फलमें नहीं है, फलकी आकांक्षासे तुम्हें कर्ममें प्रवृत्ति

नहीं होनी चाहिये और फल नहीं मिलेगा इस विचारसे कर्म-में अरुचि भी नहीं होनी चाहिये।

चन्द्रिका—इस श्लोकमें निष्काम कर्मयोगको किस भावसे करना चाहिये सो बहुत ही सुन्दर रीतिसे बताया गया है। संसारमें प्रायः फलकामनासे ही मनुष्य कर्म करता है और जहां फलकी आशा नहीं, वहां कर्म करना छोड़ देता है। किन्तु कर्मयोगका लक्षण इससे ठीक विपरीत ही है। इसमें फलकामनाद्वारा कर्ममें आसक्ति नही होनी चाहिये और फल मिलता नहीं इस कारण कर्ममें अनासक्ति या अरुचि भी नहीं होनी चाहिये। इसमें फलाफलकी परवाह न करके केवल कर्त्तव्यबुद्धिसे कर्म करना चाहिये यही निष्कर्ष है ॥ ४७ ॥

अब नीचेके तीन श्लोकोंमें कर्मयोगके स्पष्ट लक्षण बताये जाते हैं--

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ! ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्द योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

अन्वय—हे धनञ्जय ! (हे अर्जुन !) योगस्थः (योगमें स्थित होकर) सङ्गं त्यक्त्वा (आसक्तिको छोड़कर) सिद्ध्यसिद्ध्योः (सिद्धि तथा असिद्धिमें) समः भूत्वा (एक भाव-रखकर) कर्माणि कुरु (कर्मोंको करो), समत्वं (यही एक

भाव रखना) योगः उच्यते (योग कहाता है)। हे धनञ्जय ! (हे अर्जुन !) हि (क्योंकि) बुद्धियोगात् (समत्व बुद्धि-योगसे) कर्म (सकाम कर्म) दूरेण अवरं (अत्यन्त निकृष्ट है), बुद्धौ (इसलिये समत्वबुद्धिकी) शरणं अन्विच्छ (शरण लो), फलहेतवः (फलकी आकांक्षासे कर्म करनेवाले) कृपणाः (तुच्छ चित्तके होते हैं)। बुद्धियुक्तः (समत्वबुद्धिसे युक्त कर्मयोगी) इह (इस संसारमें) उभे सुकृतदुष्कृते (पुण्य पाप दोनोंको ही) जहाति (त्याग कर देता है) तस्मात् (इसलिये) योगाय युज्यस्व (समत्वबुद्धि योगमें युक्त हो जाओ) योगः कर्मसु कौशलम् (कर्ममें जो कौशल है उसे योग कहते हैं)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! योगयुक्त होकर आसक्तिको छोड़ सफलता विफलतामें समभाव रखते हुए कर्म करो, इस प्रकार समभाव रखनेको ही योग कहते हैं। समत्वबुद्धिसे सकाम कर्म बहुत ही निकृष्ट होता है, इस कारण हे अर्जुन ! तुम समत्वबुद्धिकी ही शरण लो, फलाकांक्षासे काम करनेवाले बहुत ही दीनचित्तके होते हैं। समत्वबुद्धिसे युक्त पुरुष संसारमें पाप पुण्य दोनोंके बन्धनको त्याग देता है, इसलिये तुम इसी योगसे युक्त हो जाओ, यह जो कर्म करनेकी चतुराई है, जिससे कर्म करने पर भी उसका बन्धन नहीं होता है उसे ही योग कहते हैं।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें दो प्रकारसे कर्मयोगके लक्षण कहे गये

हैं, प्रथम 'समत्व' अर्थात् लाभ अलाभ, सफलता विफलता आदि सभीमें समभाव रखकर कर्त्तव्यबुद्धि, भगवत् प्रीति या भगवान्‌को सर्वत्र व्याप्त जान कर जीवसेवा द्वारा भगवत्पूजा करना और फलाफल उन्हींको समर्पण कर देना यही कर्मयोगका लक्षण है। द्वितीयतः कर्ममें जो कौशल है अर्थात् इस कौशल या चतुराईके साथ कार्य करना कि वह कर्म बन्धनका कारण न बनकर बन्धननाश तथा मोक्षका ही कारण बन जाय, उसे भी कर्मयोग कहते है। यह कौशल कर्म करनेमें निष्कामभाव रखनेसे ही हो सकता है। क्योंकि कामना ही बन्धनका कारण है और निष्कामता मोक्षका कारण है। फलाकांक्षा न रखनेसे 'सुकृत' 'दुष्कृत' किसीके साथ भी कर्मयोगीका सम्बन्ध नहीं रहेगा और इस प्रकार पाप पुण्य, धर्म अधर्मरूपी द्वन्द्वोंसे परे ही ब्रह्मका राज्य है। अतः समत्वबुद्धिके साथ कर्मयोगके अनुष्ठान द्वारा योगी अनायास ही आनन्दमय मोक्षपदको पा सकता है यह सिद्धान्त हुआ ॥४८-५०॥

अब इस समत्वयोगका अन्तिम फल बताते हैं—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

अन्वय—बुद्धियुक्ताः (समत्वबुद्धिके द्वारा युक्त) मनीषिणः हि (मनीषिगण ही) कर्मजं फलं त्यक्त्वा (कर्मसे उत्पन्न फलको त्याग करके) जन्मबंधविनिर्मुक्ताः (जन्मरूपी बन्धनसे मुक्त होकर) अनामयं (दुःखसे रहित) पदं (मुक्तिपदको) गच्छन्ति (पाते हैं)।

सरलार्थ—समत्वबुद्धिके द्वारा युक्त ज्ञानिगण ही सुख

दुःखादि कर्मफलको त्याग करके जन्मरूपी बन्धनसे मुक्त होकर अनन्त शान्तिमय उपद्रवरहित मोक्षपदको लाभ करते हैं।

चन्द्रिका—फलाफल, शुभ, अशुभ, सफलता विफलता आदिमें समभाव रखकर कर्मयोगके अनुष्ठानका यही फल होता है कि योगी कर्मसे उत्पन्न द्वन्द्वसे मुक्त हो जाता है, जिससे आगे जन्म होनेका कारण भी नष्ट होनेपर संस्कारनाशसे जन्मरूपी बन्धन टूट जाता है और जन्म-मृत्युसे परे अनन्तानन्दमय परमपद योगीको प्राप्त हो जाता है यही इस श्लोकका तात्पर्य है ॥ ५१ ॥

अब इस प्रकार समत्वबुद्धि कब और कैसे प्राप्त होगी सो ही बता रहे हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अन्वय—यदा (जब) ते बुद्धिः (तुम्हारी बुद्धि) मोहकलिलं (शरीरमें आत्मबुद्धि आदि अविवेकके मैलेको) व्यतितरिष्यति (काट लेगी) तदा (तब) श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च (सकाम कर्मादिके विषयमें जो कुछ सुनना है या सुन चुके हो उसके प्रति) निर्वेदं (वैराग्यको) गन्ता असि (तुम प्राप्त करोगे)। यदा (जब) श्रुतिविप्रतिपन्ना (वैदिक सकाम कर्मकाण्डसे घबड़ाई हुई) ते बुद्धिः (तुम्हारी बुद्धि)

निश्चला (चाञ्चल्यरहित होकर) समाधौ (कर्मयोग द्वारा आत्मामें) अचला स्थास्यति (अचलरूपसे ठहर जायगी) तदा (उस समय) योगं (कर्मयोगका यथार्थ फल) अवाप्स्यसि (तुम प्राप्त करोगे)।

सरलार्थ—जब तुम्हारी बुद्धि मोहममता आदि अविवेककी मलिनतासे मुक्त हो जायगी तभी तुम्हें सकाम कर्मकाण्डके सुने हुए तथा सुनने योग्य विषयोंमें वैराग्य प्राप्त होगा। इस प्रकारसे सकाम कर्मकाण्डसे विरक्त तुम्हारी बुद्धि चाञ्चल्य छोड़कर जब निश्चलरूपसे आत्मामें ठहर जायगी तभी योगका यथार्थ लक्ष्य तुम्हें प्राप्त हो जायगा।

चन्द्रिका—जबतक बुद्धिमें 'मैं मेरा' आदि ममतामूलक अविवेककी मलिनता रहती है तबतक जीव प्रायः वैदिक सकाम कर्मोंके चक्करमें ही फंसा रहता है। उसको व्यवसायात्मिक बुद्धि प्राप्त न होकर कामनामयी चञ्चल बुद्धि ही प्राप्त हुई रहती है। किन्तु आत्मामें चित्तको ठहरा कर निष्कामभावसे जीव जितना ही वेदविहित कर्मोंको करता जाता है, उतना ही उसके चित्तकी सकामता तथा चञ्चलता नष्ट होकर अन्तमें आत्मा हीमें बुद्धि एकान्तरूपसे निश्चल हो जाती है। उस समय वह बुद्धि साधारण बुद्धि न कहलाकर प्रज्ञा या ऋतम्भरा प्रज्ञा कहलाती है। और इस प्रकार प्रज्ञासे युक्त पुरुष 'स्थितप्रज्ञ' कहलाते हैं। वे अपनी प्रज्ञाको ज्ञानमय ब्रह्ममें लवलीन करते हुए सत्य ही बोलते हैं, सत्य ही सोचते हैं और सत्य ही करते हैं। आनन्दमय ब्रह्ममें इस प्रकारसे सदा प्रतिष्ठित रहनेके कारण स्थितप्रज्ञ योगीको सदा आत्मप्रसाद अर्थात् आत्माका असीम आनन्द मिलता रहता है। यही योगका

अन्तिम फल होनेके कारण श्रीभगवान्‌ने इसीके लाभको ही सच्चा योगका लाभ बताया है ॥ ५२—५३ ॥

अब प्रसङ्गसे प्राप्त स्थितप्रज्ञके लक्षणके विषयमें अर्जुनकी जिज्ञासा होती है—

अर्जुन उवाच ।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ! ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अन्वय—हे केशव ! (हे कृष्ण !) स्थितप्रज्ञस्य समाधिस्थस्य (जिसकी प्रज्ञा आत्मामें ठहर गई है और जो समाधिमें स्थिर हो गया है उसका) का भाषा (क्या लक्षण है) स्थितधीः (स्थितप्रज्ञ पुरुष) किं प्रभाषेत (कैसे बोलते हैं) किं आसीत (कैसे रहते हैं) किं व्रजेत (कैसे विचरते हैं) ?

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—हे केशव ! समाधिप्राप्त स्थितप्रज्ञ पुरुषका क्या लक्षण है ? और वे कैसे बोलते हैं, रहते हैं तथा विचरते हैं ?

चन्द्रिका—पूर्व उपदेशमे 'स्थितप्रज्ञ'के विषयमे श्रीभगवान्‌के कुछ कहनेपर अर्जुनको विशद रूपसे इस विषयमें जाननेकी इच्छा हुई और तभी उन्होंने श्रीभगवान्‌को ऐसा प्रश्न किया । अब उत्तरमें श्रीभगवान् क्रमशः 'स्थितप्रज्ञ'के लक्षण तथा साधनोपाय दोनों ही बतावेंगे । 'केशव' सम्बोधनका यही तात्पर्य है कि 'क' अर्थात् ब्रह्मा और 'ईश' अर्थात् शंकर सबके सहायक होनेके कारण

श्रीभगवान् सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् हैं इसलिये यथार्थ रहस्यकी बात उत्तमरूपसे बता सकेंगे ॥ ५४ ॥

अब प्रश्नके उत्तररूपसे स्थितप्रज्ञका लक्षण तथा साधनोपाय बताते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) यदा (जिस समय) सर्वान् (सब) मनोगतान् कामान् (मनकी इच्छाओंको) प्रजहाति (परित्याग कर देता है) तदा (उस समय) आत्मनि एव आत्मना (अपनेसे ही अपनेमें) तुष्टः (आनन्दमय योगी) स्थितप्रज्ञः उच्यते (स्थितप्रज्ञ कहलाता है) ।

सरलार्थ—श्रीभगवान्ने उत्तर दिया—हे अर्जुन ! जिस समय योगी मनकी समस्त वासनाओंको एकबारगी त्याग देता है और बाहरी विषयोंसे सुखकी अपेक्षा न रख कर अपने आत्मामें ही आनन्दमग्न रह जाता है, उस समय उसे स्थित प्रज्ञ कहते हैं ।

चन्द्रिका—अर्जुनने चार प्रश्न किये हैं, इसलिये श्रीभगवान् भी क्रमशः चारोंके ही उत्तर देते हैं । यह उत्तर प्रथम प्रश्नका है । इसमें स्थितप्रज्ञका लक्षण बताया गया है । जब तक नित्यानन्दमय आत्माको भूलकर जीव अनित्य विषय सुखके खोजमें रहता है तभी तक उसके मनमें नानाप्रकारकी वैषयिक इच्छाएं उत्पन्न होती रहती हैं । किन्तु

अपनी प्रज्ञाको आत्मामें ठहराकर जब योगी उसी आत्माके नित्य तथा असीम आनन्दका उपभोग करने लगता है तब योगीको क्षणभंगुर विषयोंसे सुख चाहनेका प्रयोजन नहीं रहता है। अतः उस समय स्वतः ही योगीके मनकी सब कामनाएं नष्ट हो जाती हैं और बाहरी सुखोंसे निरपेक्ष होकर वह आत्मामें ही परम सन्तुष्ट रहता है। यही स्थितप्रज्ञका प्रथम लक्षण है ॥ ५५ ॥

अब स्थितप्रज्ञका दूसरा लक्षण कहते हैं—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

अन्वय—दुःखेषु (दुःखोंके प्राप्त होनेपर) अनुद्विग्नमनाः (जिनके चित्तको क्षोभ नहीं होता हो) सुखेषु (सुखोंके प्राप्त होने पर) विगतस्पृहः (जिनके चित्तमें आसक्ति नहीं उत्पन्न होती हो) वीतरागभयक्रोधः (आसक्ति, भय तथा क्रोधसे रहित) मुनिः (ऐसे आत्मरत पुरुष) स्थितधीः उच्यते (स्थितप्रज्ञ कहलाते हैं)।

सरलार्थ—दुःख आने पर भी जिनका चित्त व्याकुल नहीं होता है और सुख मिलने पर भी उसमें फंस नहीं जाता है, आसक्ति, भय तथा क्रोधसे रहित आत्मचिन्तनमें सदा रत ऐसे पुरुष स्थितप्रज्ञ कहलाते हैं।

चन्द्रिका—शरीरके रहते हुए रोगादिके द्वारा स्थूल दुःख, कुटुम्बमृत्यु आदि जन्य मानसिक दुःख, अतिवृष्टि अनावृष्टि वज्रपात आदिके द्वारा दैवदुःख आया ही करते हैं। जब तक आत्माका शरीरके

साथ अभिमान सम्बन्ध रहता है तब तक बद्धजीव उन दुःखोंमें व्याकुल हो जाते हैं। किन्तु शरीरके साथ अभिमानको त्यागे हुए आत्मरत पुरुष इन दुःखोंको प्रारब्ध कर्मसे प्राप्त शरीरका भोगमात्र समझकर इनमें अधीर नहीं होते हैं। इसी प्रकार आत्माके आनन्दमें मग्न रहनेके कारण ऐसे पुरुषको विषयी जीवकी तरह वैषयिक सुखोंमें भी आसक्ति नहीं रहती है, वे सदा 'वीतराग' होते है। कमनाकी तृप्ति न होनेसे ही मनुष्यको क्रोध हो जाता है। ऐसे पुरुषको जब कामना ही नहीं है तो क्रोध भी नहीं हो सकता। जबतक देहके साथ अभिमान है तभी तक उस पर विपत्तिकी आशंकासे जीवको भयादि उत्पन्न होता है। इसलिये जिसको देहाभिमान नहीं है उसको भय भी नहीं हो सकता है। इस तरहसे स्थितप्रज्ञ मुनि आसक्ति, भय तथा क्रोधसे शून्य होते हैं। यही स्थितप्रज्ञका दूसरा लक्षण है ॥ ५६ ॥

अब दूसरे प्रश्नका उत्तर देते हुए स्थितप्रज्ञका लक्षण कह रहे हैं—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

अन्वय—यः (जो) सर्वत्र (सभी विषयोंमें) अनभिस्नेहः (स्नेहशून्य हैं) तत् तत् शुभाशुभं प्राप्य (शुभ अथवा अशुभ विषयको पाकर) न अभिनन्दति न द्वेष्टि (न आनन्द ही मानते हैं और न द्वेष ही करते हैं) तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (उनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो गई है अर्थात् वे ही स्थितप्रज्ञ कहलाते हैं)।

सरलार्थ—जो सभी विषयोंमें स्नेहशून्य अर्थात् निःसङ्ग

होते हैं, जिनको शुभमें भी आनन्द नहीं है और अशुभसे भी द्वेष नहीं है, उन्हींकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित जाननी चाहिये अर्थात् वे ही सच्चे स्थितप्रज्ञ हैं।

चन्द्रिका—इस श्लोकमें 'स्थितधीः किं प्रभाषेत' स्थितप्रज्ञ योगी कैसे बोलते हैं इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है। विषयमें आसक्ति न न रहनेके कारण स्थितप्रज्ञ योगी सभीमें निःसङ्ग रहते है अर्थात् किसी वस्तुके प्रति उनके चित्तका आकर्षण या लगाव नहीं रहता है। यही 'सर्वत्र अनभिस्नेह' शब्दका तात्पर्य है। जहां राग है वहीं द्वेष भी है क्योंकि विषयी जीवको चित्तके अनुकूल विषयोंमें राग और प्रतिकूल विषयोंमें द्वेष होता है। किन्तु स्थितप्रज्ञ योगीका चित्त विषयसे परे ब्रह्ममें सदा लवलीन रहनेके कारण उनमें न राग ही होता है और न द्वेष ही होता है। क्योंकि वे इन दोषों ही से परे होते हैं। इसलिये वे न शुभको पाकर ही आनन्दमें विह्वल हो जाते हैं और न अशुभको पाकर ही द्वेषसे दग्ध होने लगते हैं। वे शुभ अशुभ दोनों ही को प्रारब्धानुसार प्राप्त समझकर धीरभावसे दोनोंको ही ग्रहण करते हैं और ऐसा ही उदासीनकी तरह लौकिक जगत्में बातचीत करते हैं॥५७॥

अब तृतीय प्रश्नका उत्तर दिया जाता है—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽगानीव सर्वशः।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥५८॥

अन्वय—यदा च अयं (जब योगी) कूर्मः (कछुआ) अङ्गानि इव (अपने अङ्गोंकी तरह) इन्द्रियार्थेभ्यः (विषयोंसे)

इन्द्रियाणि (इन्द्रियोंको) संहरते (खींच लेता है) तस्य (तब उसकी) प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (प्रज्ञाको प्रतिष्ठित जानना चाहिये)।

सरलार्थ—जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्गोंको सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब योगी विषयोंसे अपनी इन्द्रियोंको खींच लेते हैं, तभी उनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित जाननी चाहिये।

चन्द्रिका—अब इस श्लोकमें तथा आगेके और पांच श्लोकोंमें 'किमासीत' अर्थात् स्थितप्रज्ञ योगी कैसे रहते हैं, इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है। वेदमें लिखा है कि—पराञ्चि खानिव्यतृणोत् स्वयम्भुस्त-स्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त-चक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ अर्थात् प्रजापतिने मनुष्यकी इन्द्रियोंको बाहरकी ओर कर दिया है, इसलिये मनुष्य अपनी इन्द्रियोंके द्वारा बाहरी विषयोंकी ही सेवा करता है, अन्तरात्माको देख नहीं सकता है। केवल कोई कोई धीर पुरुष अमृतत्व पानेकी इच्छा करके जब इन्द्रियोंको भीतरकी ओर खींच लेते हैं तभी उन्हें अन्तरात्माका दर्शन हो जाता है। अतः इन्द्रियोंके रोके बिना न परमात्मामें मन ही लग सकता है और न आत्माका अनुभव ही हो सकता है। इस कारण जो योगी कछुवेकी तरह सब इन्द्रियोंको रोक लेंवे वे ही स्थितप्रज्ञ हैं॥५८॥

किन्तु केवल रोकने मात्रसे विषयोंका आत्यन्तिक नाश नहीं होता है क्योंकि—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥५९॥

अन्वय—निराहारस्य देहिनः (संग्रह न करनेवाले विषयो-

के भी) विषयाः (विषय समूह) विनिवर्त्तन्ते (रुक जाते हैं) रसवर्जं (किन्तु रस अर्थात् सूक्ष्म संस्कारको छोड़कर) अस्य (स्थितप्रज्ञका) रसः अपि (सूक्ष्म विषय संस्कार भी) परं दृष्ट्वा (परमात्माको देख कर) निवर्त्तते (नष्ट हो जाता है) ।

सरलार्थ—उपवास, रोग आदिके कारण विषयोंका संग्रह न होने पर अज्ञ पुरुषका भी विषय निवृत्त हो सकता है, किन्तु इसमें विषयका मूल संस्कार नष्ट नहीं हो सकता। मूल संस्कारके साथ एक वारगी ही विषयका नाश केवल ब्रह्मकी उपलब्धि होनेपर ही स्थितप्रज्ञका हो जाता है ।

चन्द्रिका—'निराहार' शब्दका अर्थ जो आहरण अर्थात् संग्रह विषयका न करे । मनुष्य उपवास करे, बीमार होजाय या विषयसे दूर रहे तो भी संग्रहका मौका न आनेसे विषय रुक सकता है । अन्नके रससे इन्द्रियोंमें तेजी आती है, इसलिये निराहार पुरुषकी इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं । यही कारण है कि पूजा आदिके पहिले उपवास करानेकी विधि शास्त्रमें पाई जाती है । इसी प्रकार रुग्नावस्थामें भी इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं । और विषयके पाससे हट जाने पर भी आकर्षणका मौका नहीं मिलता है । अतः इन उपायोंसे मूर्ख व्यक्तिका भी विषय रुक सकता है । किन्तु ऐसा विषयका रुकना स्थायी नहीं हो सकता है । क्योंकि इनके द्वारा विषयकी सूक्ष्म चाह या संस्कार नष्ट नहीं होता है जिसको 'रसवर्जं' शब्दके द्वारा बताया गया है । यह तो केवल ऊपरके दबावके द्वारा विषयका रोकना हुआ इससे स्थायी फल नहीं हो सकता है । यही कारण है कि योगशास्त्रने 'निराहार' के बदले 'युक्ताहार' होनेका ही उपदेश किया

गया है । विषयका मूलसहित नाश परमात्माके देख लेनेपर हो जाता है । क्योंकि उस समय योगीको स्त्री पुरुष सभी एक ही आत्मापर स्थित देखने लगते हैं, उनके चित्तमें भेदभाव नहीं रह जाता है । और इसी कारण मुक्तात्मा स्थितप्रज्ञमें काम आदि विषय वृत्ति नहीं उत्पन्न हो सकती है । इस अवस्थासे पहिले ध्यान आदि अथवा उपवास आदिके द्वारा विषयकी स्थूलवृत्ति नष्ट होनेपर भी सूक्ष्म संस्कार चित्तमें अवश्य ही रह जाता है, जो किसी प्रलोभनका मौका पाकर पुनः स्थूल भावको धारण कर सकता है ॥५९॥

अब दो श्लोकोंके द्वारा विषयका तीव्र वेग तथा संयमका उपाय बता रहे हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

अन्वय—हे कौन्तेय ! (हे अर्जुन !) यततः (यत्नमें लगे हुए) विपश्चितः अपि पुरुषस्य (विवेकी पुरुषके भी) मनः (मनको) प्रमाथीनि (अति बलवान्) इन्द्रियाणि (इन्द्रियगण) प्रसभं (जबरदस्ती, बलात्कारके साथ) हरन्ति (हर लेती हैं, विषयोंमें फंसा लेती हैं) । तानि सर्वाणि (उन सब इन्द्रियोंको) संयम्य (वशमें करके) युक्तः (योगीको) मत्परः (आत्मामें रत) आसीत (रहना चाहिये) हि (क्योंकि) यस्य इन्द्रियाणि (जिनकी

इन्द्रियां) वशे (वशमें हैं) तस्य (उन्हींकी) प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! इन्द्रियगण इतने बलवान् हैं कि संयमके प्रयत्नमें लगे हुए विवेकी पुरुषके भी मनको वे जबरदस्ती विषयको ओर खींच लेती हैं। इस कारण योगीको चाहिये कि अति यत्नके साथ समस्त इन्द्रियोंको वशमें ला कर आत्मामें लगे रहें, क्योंकि जिनकी इन्द्रियां वशीभूत होगई हैं उन्हींकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो सकती है।

चन्द्रिका—श्रीभगवान् मनुने कहा है—'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति' बलवान् इन्द्रिया विद्वानोंके भी चित्तको विषयकी ओर आकर्षण कर लेती हैं। फिर अविद्वान् साधारण व्यक्तिकी बात ही क्या है? इस श्लोकमें भी यही कहा गया है कि अच्छे बुरेका विवेक भी है, इन्द्रिय संयमके लिये कोशिश भी कर रहे हैं ऐसे विवेकी पुरुषके भी चित्तको अति बलवान् इन्द्रियां जिस तरह कोई डाकू जबरदस्ती गृहस्थोंका धन छीन लेता है ऐसे ही देखते देखते विषयकी ओर खींच लेती हैं, और विवेकी विवश हो जाते हैं। इसलिये योगीको चाहिये कि विशेष प्रयत्नके साथ इन्द्रियोंको रोक कर आत्मामें लगे रहें। क्योंकि आत्मामें लगे रहे बिना इन्द्रियोंका पूरा संयम नहीं हो सकता है। श्रीभगवान्ने आगे भी कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

त्रिगुणमयी मायाके बन्धनको काटना बहुत ही कठिन है, केवल

मायाके पति परमात्माकी शरण लेनेसे ही माया कट सकती है, अन्यथा नहीं। निश्चल ब्रह्ममें चित्तको लवलीन किये बिना चञ्चल मन कभी अपने स्वाभाविक चाञ्चल्यको छोड़ नहीं सकता है। अतः जिनकी इन्द्रियाँ वशमें आगई हैं वे ही स्थितप्रज्ञ कहलाते हैं॥ ६०—६१॥

अब यह विषयवृत्ति उत्पन्न होती कैसे है सो कह रहे हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्‌ बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

अन्वय—विषयान् ध्यायतः (विषयोंकी चिन्ता करनेवाले) पुंसः(पुरुषकी) तेषु (विषयोंमें) सङ्गः (आसक्ति) उपजायते (उत्पन्न हो जाता है), सङ्गात् (आसक्तिसे) कामः (कामना) संजायते (उत्पन्न होती है) कामात् (कामनाकी तृप्तिमें बाधा होनेपर) क्रोधः (क्रोध) अभिजायते (उत्पन्न हो जाता है)। क्रोधात् (क्रोधके द्वारा अन्तःकरणके ग्रस्त होनेपर) सम्मोहः भवति (कर्त्तव्य अकर्त्तव्यके विषयमें विवेक नष्ट हो जाता है) सम्मोहात् (सम्मोहके द्वारा चित्तके ग्रस्त होनेपर) स्मृति-विभ्रमः (शास्त्र तथा गुरूपदेश वाक्योंकी स्मृति बिगड़ जाती है) स्मृतिभ्रंशात् (ऐसी स्मृतिके भ्रष्ट होनेसे) बुद्धिनाशः (कार्य अकार्य निर्णयकारी बुद्धिका नाश हो जाता है) बुद्धिनाशात् (बुद्धिका नाश हो जानेपर) प्रणश्यति (मनुष्यका सर्वस्व नाश हो जाता है)।

सरलार्थ—विषयकी चिन्ता करते करते उसमें आसक्ति उत्पन्न हो जाती है, आसक्तिसे कामना और उसकी अतृप्तिमें क्रोध हो जाता है, क्रोधी मनुष्यमें अच्छे बुरेका विवेक नहीं रहता, जिससे शास्त्र तथा आचार्य वाक्योंकी स्मृति ही बिगड़ जाती है, इस प्रकारसे स्मृतिके नाश द्वारा बुद्धिका नाश और बुद्धिके नाशसे सर्वस्व नाश होजाता है।

चन्द्रिका—इन्द्रियोंका संयम न करनेसे मनुष्योंकी कैसी दुर्दशा होती है सो ही इन दो श्लोकोंमें कहा गया है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—'संकल्पाज्जयेत्कामं, क्रोधं कामविवर्जनात्' कामका संकल्प त्याग करके कामजय करना चाहिये और कामजय द्वारा क्रोधका जय करना चाहिये। किन्तु जो ऐसा न करके विषयोंका ही चिन्तन तथा संकल्प विकल्प करता रहता है उसकी उसमें आसक्ति हो जाती है और आसक्तिसे कामनाओंकी उत्पत्ति होती है। कामनाकी तृप्तिमें बाधा मिलनेपर क्रोध आ जाता है, जिससे कर्त्तव्य अकर्त्तव्य भूलकर मनुष्य पूज्य पुरुषोंका भी अपमान कर डालता है, इसी क्रोधजनित अविवेकसे शास्त्रवाक्य तथा आचार्य उपदेशकी स्मृति नष्ट हो जाती है, और शास्त्र-विषयिणी स्मृतिके लोप होनेपर बुद्धि तथा उसकी विचारशक्ति नष्ट हो जाती है। बुद्धि ही मनुष्यमें मनुष्यत्वको कायम रख सकती है, जिसको बुद्धि नहीं है, वह नराकार पशुतुल्य है, अतः बुद्धि नाशसे मनुष्यका नाश हो जाता है अर्थात् मनुष्य कहलाने योग्य उसमें जो कुछ था सभी नष्ट हो जाता है। यहां 'प्रणश्यति' शब्दका अर्थ 'मृत्यु' नहीं है, सर्वस्व नाश है। यही असंयमी विषयीकी अन्तिम दशा है ॥६२–६३॥

अब अन्तिम प्रश्नके उत्तररूपसे जितेन्द्रिय पुरुषकी उत्तम स्थितिका वर्णन कर रहे हैं—

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसोह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते ॥६५॥

अन्वय—रागद्वेषविमुक्तैः आत्मवश्यैः इन्द्रियैः (रागद्वेषसे मुक्त अपने वशमें स्थित इन्द्रियोंके द्वारा) विषयान् चरन् (विषयोंका ग्रहण करता हुआ) विधेयात्मा (संयतचित्त पुरुष) प्रसादं (शान्तिजन्य सात्त्विक प्रसन्नताको) अधिगच्छति (प्राप्त करते हैं)। प्रसादे (सात्त्विक प्रसन्नताके उदय होनेपर) अस्य (योगीके) सर्वदुःखानां (सकल दुखोंका) हानिः (नाश) उपजायते (हो जाता है), हि (क्योंकि) प्रसन्नचेतसः (प्रसन्नचित्त योगीकी) आशु (शीघ्रही) बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते (बुद्धि आत्मामें ठहर जाती है)।

सरलार्थ—रागद्वेषसे रहित तथा अपने वशमें स्थित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ग्रहण करते हुए संयतचित्त योगी शान्तिमय सात्त्विक आनन्दका लाभ करते हैं। ऐसी सात्त्विक प्रसन्नतामें उनके सकल दुःखोंका नाश हो जाता है क्योंकि उनकी बुद्धि शीघ्र आत्मामें स्थिर हो जाती है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें 'स्थितधीर्व्रजेत किम्' अर्थात् स्थितप्रज्ञ कैसे विचरते हैं इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है। विषयोंका चिन्तन करते

करते रागद्वेश आदि द्वारा उनमें फंस कर अन्तमें कैसे जीवका सर्वनाश होता है, सो पूर्व श्लोकोंमें बताकर अब इन श्लोकोंमें यही कहा गया है कि जो योगी मनको संयत रखते हैं तथा रागद्वेषमें फंसते नहीं हैं उनकी संयत इन्द्रियां आवश्यकतानुसार विषय सेवा करती हुई भी बन्धन कारण नहीं होती हैं क्योंकि केवल पान भोजनादि विषय ग्रहणमें ही बन्धन नहीं है, किन्तु इनके साथ चित्तके रागद्वेश सम्बन्ध द्वारा ही बन्धनका उदय होता है। अतः इस प्रकार संयतचित्त योगी विषय सेवासे चञ्चल न होकर जितेन्द्रियता द्वारा शान्ति तथा सात्त्विक चित्तप्रसाद ही लाभ करते हैं। उनका चित्त विषयसे हटकर आत्मामें ही स्थिर हो जाता है, जिस कारण शारीरिक मानसिक किसी प्रकारके दुःखका भी प्रभाव उनपर नहीं पड़ता है। वे आत्मामें चित्तको स्थिर करके आत्मप्रसाद ही लाभ करते हैं ॥६४-६५॥

अब विरुद्ध शब्द द्वारा इसी विषयको कह रहे हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

अन्वय—अयुक्तस्य (योगहीन पुरुषकी) बुद्धिः (आत्माके विषयकी बुद्धि) नास्ति (नहीं है), अयुक्तस्य (योगहीन पुरुषकी) भावना च न (आत्माके विषयकी भावना भी नहीं है) अभावयतः (भावनाहीन पुरुषकी) शान्तिः च न (शान्ति भी नहीं है) अशान्तस्य (शान्तिहीन पुरुषको) कुतः सुखम् (सुख कहां) ?

सरलार्थ—अयुक्त पुरुषकी आत्मविषयणी बुद्धि नहीं है और आत्मविषयणी भावना भी नहीं है, भावनाके अभावसे

उसे शान्ति नहीं मिलती और जहां शान्ति नहीं है वहां सुख कैसे आवेगा।

चन्द्रिका—आत्मामें अन्तःकरणको युक्त रख कर विषयसेवा करते रहने पर भी योगी आध्यात्मिक शान्ति तथा सुखलाभ करते हैं। किन्तु जिसका अन्तःकरण ऐसा युक्त नहीं रहता है उसकी क्या दशा होती है इसी बातको इस श्लोकमें प्रतिपादित किया गया है। अन्तःकरणके शुद्ध न रहनेसे बुद्धि आत्मामें स्थिर न होकर विषयोंमें ही चञ्चल होती रहती है, जिस कारण चित्तमेंसे आत्माकी भावना नष्ट हो जाती है। और जहां आत्माकी भावना नष्ट वहां विषयकी भावना चित्तको ग्रास करके उसकी शान्तिसुधाको चिरकालके लिये अवश्य ही पी जायगी इसमे अणुमात्र सन्देह नहीं है। विषयसे विमुख आनन्दमय आत्मामें स्थित शान्त चित्तमें ही निर्मल अध्यात्मप्रसादका विकाश हो सकता है। अतः जहां ऐसा नहीं है, किन्तु चित्त आत्मासे ही विमुख तथा विषयतरङ्ग द्वारा अशान्त है वहां सुख स्वप्नमें भी लब्ध नहीं हो सकता है। अतः आत्मामें युक्त रागद्वेषसे मुक्त संयत अन्तःकरणसे ही आत्मप्रसादका उदय हो सकता है यही विज्ञान व्यतिरेक अर्थात् विरुद्ध युक्ति द्वारा प्रतिपादित हुआ॥ ६६॥

अब अयुक्त पुरुषकी ऐसी दशा कैसे होती है इस विषयका वर्णन करते हुए प्रकरणका उपसंहार कर रहे हैं—

इंद्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि॥ ६७॥
तस्माद्यस्य महाबाहो! निगृहीतानि सर्वशः।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६८॥

अन्वय—हि (क्योंकि) चरतां इन्द्रियाणां (विषयमें विचरनेवाली इन्द्रियोंमेंसे) मनः (मन) यत् अनुविधीयते (जिस इन्द्रियके साथ रहता है) तत् (वह इन्द्रिय) वायुः (पवन) अम्भसि (जलमें) नावं इव (जिस प्रकार नावको डामाडोल कर डुबा देता है उसी प्रकार) अस्य (साधककी) प्रज्ञां (विवेक बुद्धिको) हरति (नाशकर देती है) । हे महाबाहो ! (हे वीरवर अर्जुन !) तस्मात् (इस कारण) यस्य इन्द्रियाणि (जिसकी इन्द्रियां) इन्द्रियार्थेभ्यः (विषयोंसे) सर्वशः (सब तरहसे मनके भी साथ) निगृहीतानि (वशमें आगई हैं) तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (वे ही स्थितप्रज्ञ पदको पा गये हैं) ।

सरलार्थ—क्योंकि विषयमें विचरनेवाली इन्द्रियोंमेंसे जिस एकके साथ भी मन रहता है वही इन्द्रिय जिस प्रकार प्रबल पवन समुद्रमें तरणीको इतस्ततः विक्षिप्त कर डुबा देता है, उसी प्रकार साधककी विवेक बुद्धिको नष्ट कर देती है। इस कारण हे महाबाहो ! मनके सहित समस्त इन्द्रियां जिस योगीके सम्पूर्ण वशमें आगई हैं उन्हें ही स्थितप्रज्ञ जानना चाहिये ।

चन्द्रिका—बुद्धि आत्मामें युक्त न रहनेसे क्यों ऐसी दुर्दशा होती है सो ही इन श्लोकोंमें बताया गया है। पहिले श्लोकोंमें कहा गया है कि यदि मन आत्मामें युक्त रहे तो संयत इन्द्रियोंके द्वारा विषय सेवा करते हुए भी योगी आत्मप्रसाद लाभ कर सकता है। किन्तु यदि मन

आत्मामे युक्त न होकर किसी इन्द्रियके पीछे पड़ जाय तो दशा ठीक उलटी होती है। अर्थात् आत्मासे च्युत मनके साथ वही विक्षिप्त इन्द्रिय तरङ्ग विवस समुद्रमें नावकी तरह बुद्धि तथा विवेकका सत्यानाश करती हुई साधकको घोर विषय पङ्कमें निमग्न कर देती है। और इस कार्यके लिये एकही इन्द्रिय यथेष्ट है, दो चारकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि प्रत्येक इन्द्रियमे ही मनुष्यको पशु बनानेकी अपूर्व शक्ति निहित है। अतः जिस धीर योगीने मन सहित समस्त इन्द्रियोंको पूर्णरूपसे आत्मवश कर लिया है, उसीकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो गई है यही जानना चाहिये। ऐसे स्थितप्रज्ञ योगीको ही आत्मप्रसाद, अनन्त आनन्द तथा आत्माका साक्षात्कार लाभ हो सकता है ॥ ६७–६८ ॥

अब इस प्रकार संयतेन्द्रिय योगीकी स्थिति कैसी होती है, सो ही वताया जाता है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

अन्वय—सर्वभूतानां (समस्त विषयी लौकिक जीवों के लिये) या निशा (जो रात्रि है) संयमी (जितेन्द्रिय स्थितप्रज्ञ योगी) तस्यां (उसमें) जागर्त्ति (जागते हैं), यस्यां (जिसमें) भूतानि (विषयी लौकिक जीव) जाग्रति (जागते हैं) पश्यतः मुनेः (आत्मदर्शी मुनिके लिये) सा निशा (वह रात्रि है)।

सरलार्थ—लौकिक जीव आत्मतत्त्वके विषयमें निद्रित-से रहते हैं, इसलिये उनके लिये वह रात्रि है, किन्तु स्थित-

प्रज्ञ योगी उसमें सदा जाग्रत रहते हैं। उसी प्रकार वैषयिक वस्तुओंमें रत रहनेके कारण लौकिक जीव उसमें जागते रहते हैं, किन्तु तत्त्वदर्शी मुनिके लिये वह रात्रि है।

चन्द्रिका—इस श्लोकमें आलंकारिक वर्णनके द्वारा स्थितप्रज्ञ योगीकी उत्तमा स्थिति बताई गई है। कौएके लिये रात रात है, किन्तु उल्लूके लिये वही दिन है, क्योंकि वह दिनमें छिपा रहता है और रात्रि आनेपर तब निकलता है, उसी प्रकार आत्मतत्त्वके विषयमें योगीके जागे रहनेपर भी विषयी उसमें लेटे ही रहते हैं, उसके लिये अन्धकारमयी रात्रिकी तरह वह वस्तु प्रच्छन्न ही रहती है। ठीक उसी प्रकार वैषयिक वस्तुओंमें विषयीके जागते रहनेपर भी योगी उसमें निद्रित ही रहते है अर्थात् उनके चित्तपर विषयका कोई भी प्रभाव नहीं रहता है। यही भोगीसे योगीकी विशेषता तथा संयमी स्थितप्रज्ञ-पुरुषकी दिव्य स्थिति है ॥ ६९ ॥

उनके समुद्रवत् गम्भीर शान्तहृदयका वर्णन कर रहे हैं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

अन्वय—यद्वत् (जिस प्रकार) आपूर्यमाणं (चारों ओरसे नदनदियोंके जलद्वारा परिपूर्ण) अचलप्रतिष्ठं (तथापि अपने तटकी मर्यादाको न छोड़नेवाले) समुद्रं (समुद्रमें) आपः (समस्त जलराशि) प्रविशन्ति (प्रवेश कर जाती है)

तद्वत् (उसी प्रकार) सर्वे कामाः (समस्त कामनाएं) यं (जिस योगीके समुद्रवत् विशाल हृदयमें) प्रविशन्ति (प्रवेशकर लवलीन हो जाती हैं) सः (वे ही स्थितप्रज्ञ योगी) शान्ति आप्नोति (अविनाशी शान्तिको पाते हैं) कामकामी (विषयोंका चाहनेवाला विषयी) न (शान्तिको नही पाता है)।

सरलार्थ—चारों ओरसे अनन्त नदनदियोंके द्वारा परिपूर्ण किये जानेपर भी अपनी मर्यादाका अतिक्रम न करते हुए अपने दोनों तटोंके बीचमें ही अचल गम्भीर रूपसे प्रतिष्ठित समुद्रमें जिस प्रकार अनन्त जलराशि आकर लवलीन हो जाती है ठीक उसी प्रकार जिस स्थितप्रज्ञ योगीकी धीर स्थिर समुद्रवत् विशाल सत्तामें समस्त कामनाएं आकर लवलीन हो जाती हैं वे ही शाश्वती शान्तिके अधिकारी होते हैं, विषयकामी लौकिक जीवोंके भाग्यमें यह शान्ति नहीं है।

चन्द्रिका—स्थितप्रज्ञ योगीकी उत्तमा स्थितिके वर्णन प्रसङ्गमें उनके अति विशाल हृदयका वर्णन इस श्लोकके द्वारा किया गया है। संसारमें जीव प्रायः त्रिविध स्थितिके होते है। प्रथम 'कामकामी' अर्थात् विषयी जो विषयका दास बना रहता है। द्वितीय 'मुमुक्षु' जो विषयके त्यागके लिये उद्योग कर रहा है, किन्तु अभी आत्मामें इतना बल नहीं कि विषयके सामने आनेपर भी धैर्य रख सके। ऐसे साधकको सदा विषयसे दूर ही रहना होता है। वैराग्य, एकान्तवास आदि इसके साधन है। तृतीय स्थितप्रज्ञ या मुक्तात्मा जिनके अनन्त शान्त हृदयमें

अपनी सब कामनाएं तो लय हो ही चुकी हैं, अधिकन्तु अन्य कोई काम-कामी जिनके पास आनेपर भी कामना शून्य हो महात्मा हो जाता है । ये ही सबसे उत्तम कोटिके योगी पुरुष हैं जिनका वर्णन इस श्लोकमें आया है । समुद्रमें चाहे कितनी ही नदियां आकर गिर जांय, समुद्र कभी अपने तटकी मर्यादाको न उल्लंघन करता और न अपनी गम्भीरताको ही छोड़कर चञ्चल होता है । अधिकन्तु वे नदियां ही समुद्रमें मिलकर समुद्र हो जाती हैं, उनका पृथक् अस्तित्व तथा चाञ्चल्य सब कुछ नष्ट हो जाता है । मुक्तात्मा पुरुष ठीक ऐसे ही होते हैं, उनकी समुद्रवत् विशाल धीर गम्भीर सत्तामे अपनी सकल कामनाएं विलीन हो जाती हैं और उनकी शरणमें आये हुए कामियोंकी भी कामनाएं विलीन हो जाती हैं । वे सब उनके दिव्य सङ्गसे धन्य हो जाते हैं । ऐसे ही कामनाहीन आत्माराम योगी सदा शान्तिमयी तथा नित्यानन्दमयी ब्राह्मी स्थितिको लाभ करते हैं । विषयचन्चल जीवके भाग्यमें कदापि यह शान्ति नहीं मिल सकती है । यही इस श्लोकका तात्पर्य है । इस श्लोकके द्वारा जगज्जीवोंको उपदेश देते हुए श्रीभगवान्‌ने अपनी भी अनुपम अलौकिक स्थिति बता दी है । वास्तवमें श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रकी भी ऐसी ही समुद्रवत् गम्भीर अलौकिक ब्राह्मी स्थिति थी । जिस कारण वे स्वयं योगीश्वर, आत्माराम रहकर हजारों गोपगोपी तथा नाना अधिकारके भक्तोंका उद्धार अपने अवतारकालमें कर सके थे । उनके पूर्णावतार होनेके कारण सभी रसके भक्त उनके अवतारकालमें प्रकट हुए थे यथा कान्तारसकी व्रजगोपियां, दास्य रसके उद्धवादि, सख्यरसके अर्जुन, गोपालबालकादि, वात्सल्य रसके नन्द यशोदादि, वीररसके भीष्मादि, इत्यादि । किन्तु श्रीभगवान्‌की यह अलौकिक महिमा थी कि किसी रसके द्वारा भी

उनके भक्त बननेपर उसी रसके द्वारा भक्तको तन्मय बनाकर श्रीभगवान् उन्हें अपनेमें लय कर लिया करते थे, जिससे भक्त समस्त भावोंको भूलकर भगवान्में ही लय हो जाता था। इतना तक कि कामरसके द्वारा उपासक पूर्वजन्मके ऋषि गोपियोंका भी उन्होंने इस तरहसे कामभाव छुड़ाकर उद्धार कर दिया था। उन्होंने निज मुखसे कहा है—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जितः क्वथितो धानः प्रायो बीजाय नेष्यते॥

जिस प्रकार भुने हुए धानसे अङ्कुर नहीं उग सकता है ठीक उसी प्रकार मुझमें कामके द्वारा रति होने पर भी वह काम काम नहीं रह सकता है। ऐसे कामादि भाव श्रीभगवान्में अर्पित होने पर कैसे नष्ट होते हैं इसका समाधान श्रीशुकदेवने परीक्षितके प्रश्नके उत्तरमें श्रीमद्भागवतमें कर दिया है यथा—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते॥

काम, क्रोध, भय, स्नेह इत्यादि किसी भी भावके द्वारा भगवान्में रत होने पर भगवान् उसी भावके द्वारा भक्तको अपनी ओर खींचकर तन्मय कर डालते हैं। फल यह होता है कि, तन्मयदशामें मनोलयके साथ साथ मनमें उत्पन्न कामादि भाव भी लय हो जाते हैं। और भक्त इन मलिन भावोंसे मुक्त होकर उत्तमा गतिको प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकारसे श्रीभगवान कृष्णने स्वयं आत्माराम तथा योगीश्वर रहकर कामादि भावके द्वारा उपासक व्रजगोपिकादियोंको मुक्त कर दिया था। किन्तु

ऐसी धीरता, गम्भीरता, अलौकिकता और असाधारण शक्तिशालिता पूर्णावतार तथा मुक्तात्मामें ही सम्भव हो सकती है। साधारण पुरुष ऐसे अलौकिक कार्यों को कर नहीं सकते। यही श्रीभगवान्के निजमुखके उपदेशमें निज चरित्र कथा है ॥ ७० ॥

स्थितप्रज्ञकी उत्तमा स्थितिको बताते हुए अब अन्तिम प्रश्नका अन्तिम उत्तर दे रहे हैं—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामंतकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ।

अन्वय—यः पुमान् (जो योगी पुरुष) सर्वान् कामान् (सकल प्राप्त कामनाओंको) विहाय (परित्याग करके) निस्पृहः (अप्राप्त कामनाओंके प्रति स्पृहाहीन) निर्ममः (शरीरादिके प्रति ममत्वहीन) निरहंकारः (अहंभाव रहित होकर) चरति (प्रारब्ध क्षयके रूपसे विचरता रहता है) सः शान्ति अधिगच्छति (उसे ही मोक्षरूपी आत्यन्तिक शान्ति मिलती है)। हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) एषा ब्राह्मी स्थितिः (यही ब्रह्मविषयक स्थिति है) एनां प्राप्य (इसको पाकर) न विमुह्यति (योगी पुनः संसारमोहमें नहीं फंसता है) अन्तकाले अपि (शरीर त्यागके समय भी) अस्यां स्थित्वा (इस ब्रह्म-

भावमें स्थित होने पर) ब्रह्मनिर्वाणं ऋच्छति (मोक्षको पा लेता है)।

सरलार्थ—जो योगी पुरुष समस्त कामनाओंको परित्याग करके अप्राप्त विषयोंके प्रति भी स्पृहाहीन तथा ममत्व और अहंभावसे रहित होकर प्रारब्धक्षय निमित्त संसारमें विचरता रहता है उसे ही शाश्वत शान्ति मिलती है। हे अर्जुन! स्थितप्रज्ञ योगीकी यही उत्तमा स्थिति ब्रह्ममयी स्थिति कहलाती है। इस स्थितिके लाभ होने पर पुनः योगी संसारमें नहीं फंसता है और शरीरत्यागके समय भी यह स्थिति मिल जाय तो आनन्दमय ब्रह्ममें ही योगी लवलीन हो जाता है।

चन्द्रिका—पूर्वश्लोकमें कामनाहीन पुरुष ही शान्तिलाभ कर सकते हैं ऐसा कहकर अब अन्तिम दोनों श्लोकोंके द्वारा स्थितप्रज्ञ योगीकी इसी उत्तमा ब्राह्मीस्थितिका वर्णन 'व्रजेत किम्' इस प्रश्नके अन्तिम उत्तर रूपसे कर रहे हैं। स्थितप्रज्ञ योगी समस्त विषयोंका मनसे भी परित्याग कर देते हैं और अप्राप्त विषयोंके प्रति भी स्पृहा नहीं रखते, मैं मेरा आदि भाव शरीर कुटुम्ब आदि किसीके प्रति भी उनका नहीं रहता है, अविद्याका पूर्ण नाश हो जानेके कारण किसी वस्तुके प्रति उनका अहम्भाव भी नहीं रहता है, वे केवल जीवन्मुक्त अवस्थामें स्थित रहकर अवशिष्ट प्रारब्धमात्रका भोग करते रहते हैं। इस दशामें विचरते हुए वे जो कुछ कार्य करते है वह सब या तो प्रारब्धभोगरूपमें होता है या जगत्कल्याणके लिये विराट केन्द्रद्वारा चालित होकर होता है। वे सब

कुछ करते हुए भी अनन्त आनन्दमय अनन्त ब्रह्ममें ही प्रतिष्ठित रहते हैं। उनके लिये समस्त संसार उस समय प्रस्तर खोदित मूर्तिकी तरह व्यापक आत्मामें ही भासमान दिखने लगता है। वे सब कुछ करते हुए भी कुछ भी नहीं करते हैं। यही स्थितप्रज्ञ मुक्तात्मा पुरुषकी ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्ममयी स्थिति है। प्रपञ्चसे परे, माया राज्यसे बाहर विराजमान इस अनन्तानन्दमय अनुपम स्थितिको पाकर योगी पुनः संसार जालमें नहीं फंस सकते हैं। क्योंकि उनके लिये उस समय अद्वैतसे पृथक् कोई संसार-सत्ता ही नहीं रहती है। वे अद्वैतभावमें ही सकलद्वैतभावका विलास देखकर उसीके द्वारा अद्वैतानन्दका आस्वाद लाभ करते हैं। यदि समस्त जीवन पुरुषार्थ करते करते शरीर त्यागके समय भी यह ब्राह्मीस्थिति मिल जाय तो भी योगी ब्रह्ममें ही लवलीन हो जाते हैं। इस श्लोकमें 'अपि' शब्दका यही तात्पर्य है कि जब अन्त समयमें भी ब्राह्मीस्थिति मिलनेपर योगीको ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् ब्रह्ममें लवलीनता हो जाती है तो जो अलौकिक प्रारब्धवान् साधक बाल्यकालसे ही ब्रह्मचारी तथा वैराग्यवान् होकर ब्रह्मनिष्ठ हो जाय उनकी मुक्ति तो करायत्त ही है, इसमें सन्देह नहीं। यही कर्मयोग तथा ज्ञानयोगकी ब्रह्ममयी, आनन्दमयी अन्तिम दशा है, जिसको श्रीअर्जुनको निमित्त बनाकर श्रीभगवान् वासुदेवने जगज्जनोंके कल्याणके लिये उत्तम रीतिसे दर्शा दिया ॥ ७१-७२ ॥

इस प्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुनसंवादका सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

द्वितीय अध्याय समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः ।



गीताके द्वितीयाध्यायमें प्रथमतः आत्मानात्मविवेकयुक्त ज्ञानयोगका विवेचन करके पश्चात् कर्मयोगका विवेचन किया गया है। उसमें यही बताया गया है कि फलाकांक्षा रहित होकर सिद्धि असिद्धिमें समबुद्धि रखते हुए जो कर्तव्यकर्मका अनुष्ठान है उसीको कर्मयोग कहते हैं। ब्रह्म सम है, इस कारण बुद्धि समभावमें युक्त होतेही ब्रह्ममें युक्त हो जाती है, और इस प्रकार समत्वबुद्धिसे युक्त पुरुष योगी कहलाते हैं, उनका समस्त कर्म तथा उसका फलाफल परमात्मामें ही अर्पित होता है और वे आत्मामें युक्त होकर कर्म करते करते 'आत्मरति' तथा स्थितप्रज्ञ हो जाते हैं। यही ज्ञानयोग तथा कर्मयोगकी अन्तिम गति है और इसी कारण ब्राह्मीस्थिति दिलानेवाली इस बुद्धिकी विशेष प्रशंसा श्रीभगवान्‌ने द्वितीयाध्यायमें कर्मयोग वर्णन प्रसङ्गमें की है। इसपर अर्जुनकी यह शंका होती है कि जब समत्वबुद्धि ही श्रेष्ठ तथा अन्तिम लक्ष्य है तो कर्मके झञ्झटमें पड़नेकी आवश्यकता क्या है, विवेक तथा ज्ञान द्वारा भी तो समत्वबुद्धि लायी जा सकती है? इसी प्रश्न बीजपर तृतीयाध्यायका विषय प्रारम्भ हुआ है। इसमें श्रीभगवान्‌ने यही बताया है कि विना कर्म किये एकबारगी यह समत्वबुद्धि तथा आत्मरति प्राप्त नहीं होती। क्योंकि प्रकृतिके त्रिगुणमय वेग

द्वारा जीव स्वभावतः कर्म करने लगता है। उसी स्वभावको बलात् न तोड़ कर निष्कामताकी ओर उसे मोड़ देना ही कौशल या योग है। और इसी योगका नियमित अनुष्ठान करते करते समत्वबुद्धिके परिपाकमें योगी जब 'आत्मरति' होजाता है तब उसका कोई "कार्य नहीं रहता" अर्थात् अवश्य करने योग्य कर्तव्य नहीं रहता, वह 'आत्मरति' होकर विधिनिषेदसे परे हो जाता है, केवल प्रारब्धभोग आदि रूपसे अनायास कुछ कार्य करता है। इसीको गीतामें नैष्कर्म्यसिद्धि कहा गया है। अतः बलात् कर्मत्याग या संन्यास द्वारा नैष्कर्म्य सिद्धि नहीं होती है, किन्तु निष्काम कर्मयोगके करते करते ही 'आत्मरति' होकर होती है, इसलिये प्रथमसे ही कर्मसंन्यास न करके कर्मयोगका अनुष्ठान करना चाहिये, यही इस अध्यायका प्रतिपाद्य विषय है। अब अर्जुनके शङ्कारूपसे इस विषयकी अवतारणा की जाती है—

अर्जुन उवाच।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन !।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ! ॥१॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

अन्वय—हे जनार्दन! हे केशव! (हे कृष्ण!) चेत् (यदि) कर्मणः (कर्मकी अपेक्षा) बुद्धिः (आत्मरति देनेवाली समत्वबुद्धि) ज्यायसी (श्रेष्ठतर) ते मता (तुम्हारे विचारमें है), तत्

किं (फिर क्यों) घोरे कर्मणि (हिंसात्मक युद्धकार्यमें) मां (मुझे) नियोजयसि (प्रवृत्त कर रहे हो)। व्यामिश्रेण वाक्येन इव (सन्दिग्ध जैसे वाक्यसे) मे बुद्धिं (मेरी बुद्धिको) मोहयसि इव (मुग्ध करते हो ऐसा प्रतीत होता है) तत् (इसलिये) एकं (एक उपायको) निश्चित्य (निश्चित करके) वद (कहो) येन (जिसके द्वारा) अहं (मैं) श्रेयः आप्नुयाम् (कल्याणको पा जाऊं)।

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! यदि कर्मसे ज्ञान-दायिनी समत्वबुद्धि ही तुम्हें अधिक श्रेष्ठ जान पड़ती है तो फिर क्यों मुझे हिंसायुक्त युद्धकार्यमें प्रवृत्त कर रहे हो। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुम मिले जुले सन्दिग्धवाक्योंसे मेरी बुद्धिको भ्रममें डाल रहे हो, इस कारण मुझे निश्चित एक उपाय बताओ जिससे मैं कल्याणको प्राप्त कर सकूं।

चन्द्रिका—जैसा कि, अवतरणिकामें कहा गया है श्रीभगवान्‌के दूसरे अध्यायके उपदेशसे अर्जुनको यही जंचा कि भगवान् कर्मसे बुद्धिकी श्रेष्ठता दिखला रहे हैं। क्योंकि समत्व बुद्धिके द्वारा ही साधक 'आत्म-रति' तथा स्थितप्रज्ञ होकर ब्राह्मीस्थितिको पा सकता है, यह श्रीभगवान्‌का अन्तिम उपदेश था। और जब ऐसा ही है तो कुटुम्बवधरूपी हिंसामय युद्धकार्यमें न पड़ कर बुद्धि और ज्ञानकी सहायतासे ही 'आत्म-रति' हो जाना चाहिये यही अर्जुनकी श्रीभगवान्‌के प्रति उक्ति है। श्रीभगवान्‌ने पूर्वाध्यायमें 'व्यामिश्र' वाक्य तो कहीं भी नहीं कहा था, उन्होंने प्रथमतः आत्मानात्मविवेकरूपी ज्ञान योग बताकर अर्जुनको क्षत्रियवर्णोचित युद्धकर्त्तव्यमें प्रवृत्त किया था और पुनः कर्मयोगका मार्ग

बतलाते हुए यही कहा था कि, समत्वबुद्धिके साथ कर्मयोगके करते करते कर्मबन्धनको काट लोगे और स्थितप्रज्ञ होकर ब्राह्मीस्थितिको लाभ करोगे। इसमें सन्देहजनक या बुद्धिका मोहजनक वाक्य कुछ भी नहीं था, केवल अधिकारभेदसे दोनों मार्गोंका वर्णन और अन्तमें दोनों हीका समान फल ब्राह्मीस्थितिका उपदेश था। किन्तु 'बुद्धि'की बार बार प्रशंसा तथा जीवन्मुक्तकी ज्ञानमयी स्थिति कहनेसे अर्जुनको अपनी स्थिति तथा कर्त्तव्यका ठीक पता न चला, इसलिये घबड़ाकर उन्होंने ऐसा ही कहा। भगवान्‌ने 'व्यामिश्र' वाक्य नहीं कहा था किन्तु अर्जुनको अपनी बुद्धिके अनुसार ऐसा ही जँचा इसी तात्पर्यके प्रकट करनेके लिये श्लोकमें 'इव' शब्दका प्रयोग किया गया है। 'जनार्दन' सम्बोधनका यह तात्पर्य है कि, तुम इष्टसिद्धिके लिये सकल जीवोंके द्वारा 'अर्दत' अर्थात् प्रार्थित होते हो, मैं भी अपनी इष्टसिद्धिके अर्थ प्रार्थना कर रहा हूं, मुझे ठीक ठीक बताओ। 'केशव' सम्बोधनका यह तात्पर्य है कि तुम केशव अर्थात् सर्वेश्वर हो, इसलिये तुम्हारे शिष्यरूपसे शरणागत मेरा भी कल्याणमार्ग तुम्हें बताना चाहिये ॥ १–२ ॥

अब प्रश्नके अनुसार उत्तर दे रहे हैं—

श्रीभगवानुवाच ।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

अन्वय—हे अनघ! (हे पुण्यात्मा अर्जुन!) अस्मिन् लोके (इस संसारमें) द्विविधा निष्ठा (दो प्रकारके मोक्षमार्ग) मया पुरा प्रोक्ता (मैंने पूर्व अध्यायके उपदेशमें कहे हैं) ज्ञानयोगेन

(ज्ञानयोगके द्वारा) सांख्यानां (ज्ञानमार्गी व्यक्तियोंका) कर्म-योगेन (कर्मयोगके द्वारा) योगिनाम् (कर्मयोगी व्यक्तियोंका)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्ने कहा—हे निष्पाप अर्जुन! मैंने पूर्व अध्यायके उपदेशमें तुम्हें बताया है कि, इस संसारमें मोक्षलाभके दो मार्ग होते हैं, यथा ज्ञानयोगके द्वारा ज्ञान-मार्गियोंका और कर्मयोगके द्वारा कर्ममार्गियोंका।

चन्द्रिका—ये ही दो उपाय श्रीभगवान्ने सृष्टिके आदिकालमें भी कहे थे और अर्जुनको भी कहे हैं, इसलिये 'पुरा' शब्दके ये दो ही प्रकारके अर्थ किये जा सकते हैं। अर्जुनको 'अनघ' अर्थात् निष्पाप कहकर ऐसे उत्तम मोक्षप्रद उपदेशमें उनका अधिकार बताया गया है। ज्ञानयोगमें आत्मा अनात्मा विचारकी मुख्यता रहनेसे कर्मकी गौणता है। इसमें केवल शरीररक्षार्थ स्वाभाविक कुछ कर्म रहते हैं। कर्मयोगमें कर्मकी मुख्यता रहती है जैसा कि पहिले कहा गया है। दोनोंमेंसे किसी एक मार्गके द्वारा ही मुमुक्षु अपवर्ग लाभ कर सकता है। इसमें पर-स्परका साध्यसाधन सम्बन्ध नहीं है, केवल मोक्षलाभके लिये दो प्रकार-के 'निष्ठा' अर्थात् मार्ग हैं। किन्तु जैसा कि भूमिकामें निर्णय किया गया है कि, दोनोंका समुच्चय रहनेसे परस्पर सहायता द्वारा साधक शीघ्र तथा विघ्नरहित होकर लक्ष्य स्थानपर पहुंच सकता है। यही श्रीभगवान्के दोनों मार्ग बतानेका तात्पर्य है।

अब अधिकारानुसार कर्मयोगकी आवश्यकता बता रहे हैं—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४॥

अन्वय—पुरुषः (कोई व्यक्ति) कर्मणां अनारम्भात् (कर्मोंका आरम्भ न करके) नैष्कर्म्यं (निष्कर्मताको) न अश्नुते (नहीं प्राप्त करता है), सन्न्यसनात् एव च (और केवल कर्मत्याग द्वारा भी) सिद्धिं (मोक्षरूपी सिद्धिको) न समधिगच्छति (नहीं पा सकता है)।

सरलार्थ—कर्मका आरम्भ न करके कोई भी निष्कर्मताको नहीं पा सकता है और केवल कर्मत्यागसे भी सिद्धि नहीं मिलती है।

चन्द्रिका—अर्जुनकी शंकाके उत्तरमें श्रीभगवान् अब कर्म करनेकी आवश्यकता क्रमशः बता रहे है। कर्मका आरम्भ न करके ही निष्कर्मता प्राप्त नहीं होती है। श्लोकमें 'नैष्कर्म्य' शब्द योगीकी उस दशाके लिये प्रयोग किया गया है, जब कि 'आत्मरति' हो जानेपर उनके लिये कोई कर्मका विधिनिषेध या अवश्य कर्त्तव्यता नहीं रह जाती। यह दशा कर्मके अनारम्भ द्वारा नहीं प्राप्त होती है, किन्तु जैसा कि दूसरे अध्यायमें कहा गया है। आत्मामें युक्त रहकर सिद्धि असिद्धिमें समभाव रखते हुए वर्णाश्रमोचित कर्त्तव्यकर्मके नियमित अनुष्ठान द्वारा प्राप्त होती है। किन्तु उस समय भी योगीका एकबारगी ही कर्माभाव नहीं हो जाता, क्योंकि प्रारब्ध भोगके लिये शरीर रहतेतक कुछ स्वाभाविक कर्म रहते ही हैं और इसके सिवाय विराटकेन्द्रकी प्रेरणासे जगत्कल्याणकारी कुछ कर्म भी उनके शरीर द्वारा हो सकते हैं। किन्तु इन कर्म्मोंके साथ योगीका कोई कामनासम्बन्ध न रहनेसे वे कर्म नहीं कहे जा सकते और इसीलिये श्लोकमें

उस अवस्थाको नैष्कर्म्यसिद्धिकी अवस्था कही गई है। यही इस श्लोकके प्रथम अर्द्धांशका तात्पर्य है। इसके दूसरे आधे अंशका तात्पर्य यह है कि 'सन्न्यसन्' अर्थात् कोरे कर्मत्यागद्वारा भी सिद्धि नहीं मिलती। क्योंकि जब प्राकृतिक वेग ही कर्म करानेका है तो जबरदस्ती उस वेगको बन्द कर देनेसे कैसे शुभ फल मिल सकता है? उससे तो उलटा वह वेग भीतर भीतर काम करके मनुष्यकी और भी अधोगति करा देगा। इस कारण कोरे कर्मत्यागसे भी सिद्धि नहीं मिल सकती। सिद्धि तो इसी प्राकृतिक वेगको कर्मयोगरूपी कौशलके द्वारा आत्माकी ओर लगानेसे ही क्रमशः मिल सकती है। यही दूसरे अर्द्धांश श्लोकका तात्पर्य है ॥ ४ ॥

अब कोरे कर्मत्यागसे क्यों नहीं सिद्धि या नैष्कर्म्यसिद्धि हो सकती है इसका कारण कह रहे हैं—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्मः सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

अन्वय—हि (क्योंकि) जातु (कभी) क्षणं अपि (क्षणभर भी) कश्चित् (कोई मनुष्य) अकर्मकृत (कर्म न करके) न तिष्ठति (नहीं रह सकता है), प्रकृतिजैः गुणैः (सत्त्व रज तम रूपी प्राकृतिक गुणोंके द्वारा) हि (क्योंकि) सर्वः (सब लोग) अवशः (विवश होकर) कर्म कार्यते (कर्म कराये जाते हैं)।

सरलार्थ—क्योंकि क्षण भर भी कर्म न करके कोई रह

नहीं सकता । प्राकृतिक तीन गुणोंके द्वारा विवश होकर सब-को कर्म करना ही पड़ता है ।

चन्द्रिका—सत्त्व, रज और तम ये तीन प्रकृतिके गुण हैं। इन्हीं-के परिणामसे सृष्टि होती है, इसलिये प्रत्येक जीवके भीतर तीन गुणके वेग भरे रहते हैं। पूर्व जन्ममें इन तीन गुणोंके द्वारा सुख दुःख मोहा-त्मक जो कुछ संस्कार बन चुके हैं इन्हींके अनुसार भोगायतन रूपसे वर्त-मान शरीर मिला है, इसलिये ही सब गुण पूर्व संस्कारके अनुसार जीव-को अवश्यही कर्ममें प्रवृत्त करावेंगे। अतः शरीर रहते जब कर्मत्याग होना असम्भव है तो जबरदस्ती ऊपरसे कर्मत्याग कर देने पर भीतरसे कर्म त्याग न होकर उल्टी दुर्दशा ही होगी यही इस श्लोकका तात्पर्य है ॥ ५ ॥

वह दुर्दशा क्या होगी, सो बता रहे हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

अन्वय—यः (जो) कर्मेन्द्रियाणि (हस्तपदादि कर्मे-न्द्रियोंको) संयम्य (रोककर) मनसा (मनके द्वारा) इन्द्रि-यार्थान् (शब्दादि इन्द्रिय विषयोंको) स्मरन् आस्ते (चिन्तन करता रहता है) सः विमूढात्मा (ऐसा मूढ़मति पुरुष) मिथ्याचारः (कपटी) उच्यते (कहलाता है)।

सरलार्थ—कर्मेन्द्रियोंको ऊपरसे रोककर जो मन ही मन विषयचिन्ता करता रहता है ऐसा मूढ़चित्त पुरुष कपटी या ढोंगी कहलाता है ।

चन्द्रिका—'लोग मुझे ज्ञानी कहेंगे, प्रपञ्चरूप कर्ममें क्यों मैं पड़ूँ' ऐसा दम्भपूर्ण विचार करके कोई यदि हाथ पांवसे कर्म करना भी छोड़ देवे तौ भी क्या होगा? भीतर तो त्रिगुणमयी प्रकृतिका वेग भरा पड़ा है, हाथ पांवके रोकने पर भी मन तो नहीं रुकता, इसलिये दशा यह होगी कि हाथ पांवके रोकनेपर भी मनमें रागद्वेषका चक्कर चलता ही जायगा और अन्तमें ऐसा मनुष्य घोर कपटी तथा ढोंगी बन जायगा। अवश्य जो साधक संयमके अङ्गरूपसे प्रथमतः कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रियोंको रोक लेवे और धीरे धीरे मनको भी रोक लेवे वह मिथ्याचार नहीं कहलाता है, क्योंकि उनका रोकना हठसे नहीं होता है, किन्तु साधनारूपसे ही क्रमशः होता है। किन्तु यहां तो रोकनेका लक्ष्य ही दूसरा है। इस श्लोकमें 'संयम्य' शब्दका अर्थ संयम करना नहीं है, किन्तु हठसे रोकना मात्र है, जिसके फलसे मन तो रुकता नहीं है, उल्टा इन्द्रियोंका वेग और भी बढ़ जाता है, कहीं कहीं अनेक प्रकारके रोग भी हो जाते हैं। अतः ज्ञानी बननेके दम्भसे प्रकृतिके सरल हुए विना इस प्रकार हठात् स्थूल इन्द्रियोंका रोकना ठीक नहीं है, अधिकन्तु मिथ्याचार या कपटाचार ही है ॥ ६ ॥

इस कपटाचारसे बचनेका उपाय क्या है सो बता रहे हैं—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन!।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

अन्वय—हे अर्जुन! (हे अर्जुन!) यः तु (किन्तु जो पुरुष) इन्द्रियाणि मनसा नियम्य (मनके द्वारा ज्ञानेन्द्रियोंको संयत करके) असक्तः (फलाकांक्षारहित होकर) कर्म-

न्द्रियैः (हस्तपदादि कर्मेन्द्रियोंके द्वारा) कर्मयोगं आरभते (कर्मयोगका अनुष्ठान करता है) स विशिष्यते (वह श्रेष्ठ है।

सरलार्थ—किन्तु हे अर्जुन! जो पुरुष मनके द्वारा ज्ञानेन्द्रियोंको संयत करके फलाकांक्षाशून्य हो कर्मेन्द्रियोंकी सहायतासे कर्मयोगका अनुष्ठान करता है वह श्रेष्ठ है।

चन्द्रिका—इस श्लोकमें मिथ्याचारसे बचनेका उत्तम, सरल, स्वाभाविक उपाय कर्मयोग बताया गया है। इसमें हाथ पांव आदि इन्द्रियोंको जबरदस्ती रोकना नहीं पड़ता है, बल्कि जो कुछ स्थूलप्रकृतिका स्वाभाविक वेग है वह इन अङ्गोंके सञ्चालन द्वारा धीरे धीरे शान्त होने लगता है। दूसरी ओर मनके द्वारा ज्ञानेन्द्रियोंके संयत करनेसे विषयमें आसक्ति नहीं बढ़ती है, जिससे कामनाशून्य तथा फलासक्ति रहित होकर आत्मामें युक्त हो योगी कर्मयोगका अनुष्ठान कर सकता है और इसका फल 'आत्मरति' तथा ब्राह्मीस्थिति अवश्य ही है। एक ओर कुछ न करने पर भी मिथ्याचार और पापी है, दूसरी ओर सब कुछ करनेपर भी पुण्यात्मा, पवित्र और योगी है तथा अन्तमें आत्माका अनन्त आनन्दमय अमृतमय रसास्वादन है, यही कर्मयोगका अनुपम रहस्य है। अतः ऐसा कर्मयोगी अवश्य ही श्रेष्ठ तथा विशिष्ट है ॥ ७ ॥

रहस्य बताकर अब भक्तको कर्त्तव्यमें लगा रहे हैं—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥८॥

अन्वय—त्वं (तुम) नियतं (वर्णाश्रमके अनुसार विहित)

कर्म कुरु (कर्मको करो) हि (क्योंकि) अकर्मणः (कर्म न करनेकी अपेक्षा) कर्म ज्यायः (कर्म करना अच्छा है) अकर्मणः ते (कर्म-शून्य रहने पर तुम्हारा) शरीरयात्रा अपि च (शरीरका निर्वाह भी) न प्रसिध्येत् (नहीं चलेगा)।

सरलार्थ—तुम वर्णाश्रमानुसार विहित कर्मोंको करो, क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना ही अच्छा है। एक-दम कर्मशून्य होकर हाथपांव हिलाना बन्द कर देनेसे शरीर-का निर्वाह होना भी असम्भव हो जायगा।

चन्द्रिका—इस श्लोकमे स्वभावके अनुसार, कर्मकी अत्यावश्य-कता बता कर अर्जुनकी वृत्तिको कर्मकी ओर प्रेरित किया गया है। जीवका स्वभाव ही ऐसा है कि विना इच्छाके केवल प्रकृति वेगसे ही बहुत कुछ कर्म करने पड़ते है। खाना, पीना, मलमूत्रत्याग करना आदि भी तो कर्म ही है और इनके लिये हाथ पांव हिलाना अवश्य पड़ता है। इस लिये कर्मशून्य होने पर शरीरका निर्वाह होना भी असम्भव हो जायगा और मनुष्य इस संसारमे जीवन धारण नहीं कर सकेगा अतः देहके रहते जब कर्मत्याग नही हो सकता है तो जिस वर्णके लिये जो कर्म विहित है उसे ही आसक्तिशून्य होकर कर्त्तव्यबुद्धिसे करते रहना मङ्गलजनक होगा यही श्रीभगवान्‌का उपदेश है॥ ८॥

वर्णाश्रमविहित कर्म ही यज्ञ है, अतः इसीका निर्देश कर रहे हैं

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥ ९॥

अन्वय—यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र (यज्ञके लिये कर्म करने-

के अतिरिक्त अन्य कर्म द्वारा) अयं लोकः (कर्म करनेवाला मनुष्य) कर्मबन्धनः (कर्मसे बन्धनको पाता है), हे कौन्तेय! (हे अर्जुन!) तदर्थं (यज्ञके अर्थ) मुक्तसङ्गः (आसक्तिरहित होकर) कर्म समाचर (कर्मको किये जाओ)।

सरलार्थ—यज्ञातिरिक्त कर्मके द्वारा कर्माधिकारी बन्धनको पाता है, इसलिये हे अर्जुन! तुम आसक्ति छोड़ कर यज्ञके लिये ही कर्म किये जाओ।

चन्द्रिका—इस श्लोकमें 'यज्ञ' शब्दका रहस्य समझने योग्य है। यहां पर केवल वैदिक अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम आदिको ही यज्ञ नहीं कहा है। यज्ञ शब्दका प्रयोग यहां बहुत ही व्यापक रूपसे हुआ है। मनुष्य प्राक्तन कर्मानुसार जिस वर्णमें, जिस आश्रममें या व्यापकप्रकृतिके जिस अधिकारमें स्थित है, उसीमें प्रतिष्ठित रहनेके अर्थ नित्य कर्त्तव्य रूपसे जो कुछ विहित कर्म करे सभीको यहा पर यज्ञ कहा गया है। इनके नियमित अनुष्ठानसे पतनसे बच कर मनुष्य अनायास ही आत्माकी ओर अग्रसर हो सकता है, इसलिये वर्णाश्रम तथा अधिकारानुकूल कर्मोंका नाम 'यज्ञ' है। ब्रह्माण्डप्रकृतिकी गति सदा ऊपरकी ओर होनेके कारण तथा अंश और पूर्णरूपसे जीवके साथ ब्रह्मका स्वाभाविक सम्बन्ध रहनेके कारण ऊपरकी ओर जीवका खिंचाव स्वाभाविक है। उसी स्वभावके पथमें 'अविद्या' कण्टक है, किन्तु वर्णाश्रमोचित नित्यकर्म उस कण्टकको हटाकर जीव और ब्रह्मके स्वाभाविक आकर्षण तथा सम्बन्धको बनाये रखता है। इसलिये इन कर्मोंको नियमित रूपसे करते रहनेपर जीवकी कदापि अधोगति नहीं हो सकती है और वह अनायास ही आत्मा-

की ओर धीरे धीरे अग्रसर होने लगता है। यही कारण है कि ये सब कर्म यज्ञ कहे गये हैं. इस लक्षणको और भी उदारताके साथ प्रयोग करनेपर 'यज्ञ' शब्दका यही अर्थ निकलेगा कि जिन कार्योंके द्वारा साक्षात् या परम्परा रूपसे जीव परमात्माकी ओर कुछ भी अग्रसर हो सकता है वे सभी 'यज्ञ' कहे जा सकते हैं। अतः गीतामें कथित 'द्रव्ययज्ञ' 'तपोयज्ञ' 'जपयज्ञ' 'ज्ञानयज्ञ' आदि सभी यज्ञ हैं। इनका सकामभावसे अनुष्ठान स्वर्गादि फलप्रद होनेके कारण परम्परा रूपसे आत्माकी ओर अग्रसर करने वाला होता है और इनका निष्कामभावसे अनुष्ठान साक्षात् रूपसे याज्ञिकको परमात्माके प्राप्तिपथमें ले जाता है। यही कारण है कि श्रीभगवान् अर्जुनको यों कर्म करनेकी अपेक्षा 'यज्ञार्थ' कर्म करने कहते हैं और उसमें भी साक्षात्‌रूपसे 'आत्मरति' होनेके लिये 'मुक्तसङ्ग' अर्थात् फलाकांक्षारहित होकर कर्म करने कहते हैं। यही 'यज्ञ' शब्दके गम्भीर तात्पर्य तथा श्रीभगवान्‌के उपदेशका गूढ़ तात्पर्य है ॥ ९ ॥

अब समष्टि व्यष्टि विचारसे जगच्चक्रके साथ यज्ञका स्वाभाविक सम्बन्ध बता रहे हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिंद्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

अन्वय—पुरा (सृष्टिके आदिमें) प्रजापतिः (ब्रह्माने) सह यज्ञाः (यज्ञके साथ) प्रजाः (ब्राह्मणादि प्रजाओंको) सृष्ट्वा (उत्पन्न-करके) उवाच (कहा) अनेन (इस यज्ञके द्वारा) प्रसविष्यध्वं (वृद्धिको पाते रहो) एषः (यह यज्ञ) वः (तुम्हारा) इष्टकामधुक् (चाहे हुए फलका देनेवाला) अस्तु (हो)। अनेन (यज्ञके द्वारा) देवान् (देवताओंको) भावयत (तृप्त तथा सम्वर्द्धित करो) ते देवाः (वे देवतागण) वः (तुम्हें) भावयन्तु (सम्वर्द्धित करें), परस्परं भावयन्तः (इस तरह परस्पर सम्वर्द्धन करते हुए) परं श्रेयः (विशेष कल्याणको) अवाप्स्यथ (प्राप्त करोगे)। देवाः (देवतागण) यज्ञभाविताः (यज्ञसे तृप्त होकर) इष्टान् हि भोगान् (इच्छित भोगोंको) वः (तुम्हें) दास्यन्ते (देंगे) तैः दत्तान् (देवताओंके द्वारा दी हुई वस्तुओंको) एभ्यः (देवता-ओंको) अप्रदाय (यज्ञादिरूपसे न देकर) यः भुंक्ते (जो स्वयं

उपभोग करता है) सः स्तेनः एव (वह चोर है)। यज्ञशिष्टाशिनः (यज्ञशेष भोजन करनेवाले) सन्तः (सत्पुरुषगण) सर्वकिल्विषैः (सकल पापोंसे) मुच्यन्ते (मुक्त होते हैं) ये तु (किन्तु जो लोग) आत्मकारणात् (अपने ही लिये) पचन्ति (भोजन बनाते हैं) ते पापाः (ऐसे दुरात्मागण) अघं भुञ्जते (पाप भक्षण करते हैं)। भूतानि (जीवगण) अन्नात् भवन्ति (अन्नसे उत्पन्न होते हैं) पर्जन्यात् (मेघकी वृष्टिसे) अन्नसम्भवः (अन्नकी उत्पत्ति होती है) पर्ज्जन्यः (वृष्टि) यज्ञाद् भवति (यज्ञसे होती है) यज्ञः कर्मसमुद्भवः (यज्ञ ऋत्विक् यजमानादिके द्वारा किये हुए वैदिक कर्मसे होता है) कर्म (कर्मको) ब्रह्मोद्भवं (प्रकृतिसे उत्पन्न) विद्धि (जानो) ब्रह्म (प्रकृति) अक्षरसमुद्भवं (परमात्मासे उत्पन्न है), तस्मात् (इसलिये) सर्वगतं ब्रह्म (सर्वव्यापक परमात्मा) नित्यं (सदा) यज्ञे प्रतिष्ठितम् (यज्ञमें अधिष्ठान करते हैं)। हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) एवं (इस प्रकारसे) प्रवर्त्तितं (ईश्वरके चलाये हुए) चक्रं यः इह न अनुवर्त्तयति (कर्मचक्र या यज्ञचक्रके अनुसार जो इस संसारमें नही चलता है) अघायुः (पापजीवन) इन्द्रियारामः (इन्द्रियलम्पट) सः मोघं जीवति (वह वृथा ही जीवन धारण करता है)।

सरलार्थ—प्रजापति ब्रह्माने सृष्टिके आदिकालमें यज्ञसहित प्रजाको उत्पन्न करके उन्हें कहा कि तुम सब यज्ञके द्वारा वृद्धिको पाते रहो, यज्ञ ही तुम्हारा इष्टफल दाता हो

जाय। तुम यज्ञ द्वारा देवताओंको तृप्त करो और देवतागण अन्नादि द्वारा तुम्हें तृप्त करें, इस प्रकार परस्पर सम्वर्द्धनसे तुम परमकल्याणका लाभ करोगे। देवतागण यज्ञसे तृप्त हो तुम्हें इच्छित भोगोंका प्रदान करेंगे, उनकी दी हुई वस्तुओं-को उन्हें न समर्पण कर जो स्वयं भोजन करता है वह देवधन-हरणकारी चोर है। यज्ञमें देवताओंको अन्न देकर प्रसाद-भोजन करनेसे मनुष्य सकल पापसे मुक्त होता है, जो केवल अपने ही लिये अन्नपाक करता है, वह दुरात्मा पाप भोजन करता है। अन्न अर्थात् अन्न परिणामसे उत्पन्न रस रक्त वीर्य द्वारा जीवकी उत्पत्ति होती है, वृष्टिसे अन्न उत्पन्न होता है, यज्ञसे वृष्टि होती है, यज्ञ वैदिक कर्ममूलक है, कर्म प्रकृतिके त्रिगुणमय कम्पनसे होता है और प्रकृति ब्रह्मसे होती है, इस-लिये क्रमविचारसे सर्वव्यापी परमात्मा सदा यज्ञमें अधिष्ठान करते हैं, यही सिद्ध हुआ। हे अर्जुन! परमात्माके द्वारा इस प्रकार चलाये हुए कर्मचक्रके अनुसार जो नहीं चलता है, उसका जीवन पापमय तथा वह केवल इन्द्रियलम्पट है, संसा-रमें उसका रहना ही व्यर्थ है।

चन्द्रिका—महाभारतके शान्तिपर्वमें लिखा है "अनुयज्ञं जगत् सर्वं यज्ञश्चानुजगत् सदा" अर्थात् यज्ञके पीछे जगत् है और जगत्के पीछे यज्ञ है। देवताओंने प्रथम यज्ञ करके तब सृष्टि की थी और जगत् भी यज्ञके द्वारा ही देवताओंका सत्कार करता है। इस प्रकारसे यज्ञ द्वारा कर्मके चालक देवताओंके

साथ जीवजगत्का सम्बन्ध बना रहता है। यही महाभारतके इस श्लोकार्द्धका तात्पर्य है। कोई क्रिया शक्तिके विना नहीं चलती, यज्ञ-द्वारा अपूर्व देवशक्ति उत्पन्न होती है जिसके बलसे सृष्टिक्रिया चल सकती है, इसलिये सृष्टिके पहिले यज्ञ करनेकी तथा प्रत्येक शुभकार्यके पहिले यज्ञ हवनादि करनेकी आवश्यकता होती है। यही कारण है कि देवताओंने यज्ञ करके ही सृष्टि रची थी और प्रजापतिने भी 'सहयज्ञाः' अर्थात् यज्ञके साथही प्रजाकी उत्पत्ति की। जो शक्ति आदिमें सृष्टिको उत्पन्न कर सकती है, वही बीचमें भी सृष्टिकी रक्षा तथा उन्नति भी करा सकती है, इसलिये सृष्टिकी रक्षा तथा उन्नतिके लिये सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माजीने प्रजाको यज्ञ ही करने कहा और यज्ञद्वारा कर्मके प्रेरक देवताओंको सम्बर्द्धित करनेकी आज्ञा दी। प्रत्येक गृहस्थके नित्यनैमित्तिक कर्मके अन्तर्गत ऐसे अनेक यज्ञ रक्खे गये हैं जिनके नित्य अनुष्ठानसे केवल देवताओंके साथ ही नहीं अधिकन्तु समस्त विश्वमें व्याप्त परमात्माकी अनेक विभूतियोंके साथ अनायास अधिदैव सम्बन्ध स्थापन करके मनुष्य परम कल्याणका अधिकारी हो सकता है। दृष्टान्तरूपसे पञ्चमहायज्ञको समझ सकते हैं। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ ये पांच महायज्ञ द्विजमात्रके नित्यकर्म हैं। वेद तथा शास्त्रका नित्य पाठ करना ब्रह्मयज्ञ है जिससे ऋषियोंके साथ मनुष्योंका सम्बन्धस्थापन तथा उनकी तृप्ति होती है। हवनसे देवयज्ञ, तर्पणसे पितृयज्ञ, पशुपक्षियोंको अन्न देनेसे भूतयज्ञ और अतिथिको नारायण समझकर भोजन देनेसे नृयज्ञ साधन होता है। इन पांच यज्ञोंके द्वारा अपने ऊपरकी ऋषि, देव, पितृ ये तीन विभूति, अपने नीचेकी पश्वादि योनिमें व्याप्त विभूति तथा मनुष्यमें व्याप्त नारायणकी विभूति सबके साथ गृहस्थ सम्बन्ध कर सकता है।

यही एक विश्वव्यापी 'चक्र' है जिसका 'अनुवर्त्तन' करनेसे न केवल 'खाने पीने चलने फिरने' आदिमें जो नित्य जीवहिंसा होती है जिसको धर्मशास्त्रमें 'पञ्चसूना' दोष कहा गया है, उससे गृहस्थ बच जाता है, अधिकन्तु 'देवता ऋषि पितर' आदिके साथ 'परस्पर भावना' द्वारा इहलोक परलोकमें परम कल्याणको प्राप्त कर सकता है। यही गीतोक्त 'यज्ञशेष भोजन द्वारा पापनाश' तथा 'परस्पर भावना' द्वारा 'परमश्रेयप्राप्ति' शब्दोंका तात्पर्य है। जब कर्मके चालक देवताओंकी कृपासे ही अन्न मिलता है तो उनको प्रथम 'निवेदन' न करके खाना 'मनुष्यत्व' तथा 'कृतज्ञता' नहीं है। इसलिये ऐसे स्वार्थी इन्द्रियसेवी जन देवधनहरणकारी 'चोर' तथा 'पापी' कहे गये हैं। वेदमें भी 'केवलाघो भवति केवलादी' और केवल अपने लिये पाक करनेवाले पापी होते हैं ऐसा कहकर भगवद्वाक्यकी ही पुष्टि की गई है। इतना कहकर पुनः श्रीभगवान्ने 'यज्ञचक्र' द्वारा अन्नसे ब्रह्म तकका सम्बन्ध बताया है। अन्नरसके द्वारा वीर्यादि बनकर प्रजाकी उत्पत्ति होती है, यह तो प्रत्यक्ष ही है। मनुसंहितामें लिखा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा॥

अग्निमें हवन करने पर वह आहुति सूर्यदेवताको प्राप्त होती है और सूर्यदेवताकी कृपासे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति है। अतः यज्ञसे प्रजाका विशेष सम्बन्ध हुआ। यज्ञ वैदिक कर्मके द्वारा होता है, कर्म प्रकृतिके त्रिगुण परिणामसे होता है और प्रकृति ब्रह्मकी शक्तिस्वरूपिणी है, यथा श्वेताश्वतर श्रुतिमें—'यतः प्रसूता जगतः प्रसूतिः'

अर्थात् विश्वको प्रसव करनेवाली प्रकृति परमात्मासे ही प्रकट होती है। अतः 'यज्ञचक्र' द्वारा अन्नसे लेकर ब्रह्मपर्यन्त सभीका परस्पर सम्बन्ध है। जब यह सम्बन्ध नित्य तथा प्राकृतिक है तो अपने अपने वर्णाश्रमोचित नित्यनैमित्तिक कर्मरूपी यज्ञके द्वारा इस सम्बन्धको बनाये रखना ही उन्नतिका कारण हो सकता है और इसको छोड़कर केवल इन्द्रियसेवामें ही रत पुरुषका जीवन ही व्यर्थ है इसमें क्या सन्देह है। इस कारण कर्मत्याग न करके निष्कामबुद्धिसे वर्णाश्रमोचित कर्त्तव्योंको करते रहना ही सर्वथा उचित है यही उपदेश श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको प्रदान किया॥१०--१६॥

अब इस चक्रका दायित्व कब तथा किस अधिकारमें जीवको नहीं रहता है सो ही बता रहे हैं--

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥१७॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥१८॥

अन्वय---यः तु मानवः (किन्तु जो मनुष्य) आत्मरतिः (आत्मामें रमण करनेवाला) आत्मतृप्तः (आत्माके रमणसे ही तृप्त) आत्मनि एव सन्तुष्टः च (और आत्मामें ही सन्तुष्ट) स्यात् (रहता है) तस्य (उसका) कार्यं न विद्यते (कोई कर्त्तव्य नहीं रहता है)। इह (संसारमें) कृतेन (करनेमें) तस्य (उसका) अर्थः न एव (कोई प्रयोजन नहीं रहता है), अकृतेन (न करनेमें) कश्चन न (कोई भी हानि नहीं रहती है), च (तथा) अस्य (उसका) सर्वभूतेषु (सकल जीवोंमें)

कश्चित् (किसी प्रकारका) अर्थव्यपाश्रयः (प्रयोजन सम्बन्ध) न (नहीं रहता है) ।

सरलार्थ—किन्तु जो मनुष्य आत्मामें ही रत, आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट रहता है उसका संसारमें कोई कर्त्तव्य नहीं रहता है । उनका न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है और न न करनेसे ही कोई हानि होती है तथा समस्त जीवोंके साथ उनका कोई प्रयोजन सम्बन्ध भी नहीं रहता है ।

चन्द्रिका—कर्मचक्र या यज्ञचक्रके साथ लौकिक जीवोंका स्वाभाविक सम्बन्ध बताकर अब किस उन्नत अलौकिक दशामें जीव उससे तथा उसके विधिनिषेधसे परे हो सकता है सो ही इन दोनों श्लोकोंके द्वारा बताया गया है । संसारका सभी कर्त्तव्य मनुष्योंका तभी तक रहता है, जब तक किसी भी भावसे उसके किसी अङ्गके साथ मनुष्यका अभिमान या अभिनिवेश सम्बन्ध बना हुआ है । स्थूल सूक्ष्म शरीरके साथ 'मैं मेरा' अभिमान परिवारके साथ ममत्वाभिमान, वर्णाभिमान, आश्रमाभिमान आदि प्रवृत्तिमूलक अभिमानोंसे ही उन उन भावोंमें कर्त्तव्य तथा दायित्वका उदय होता है । इस कारण जब साधक इन अभिमानोंको छोड़कर इनसे परे विराजमान आत्मामें ही 'रमण' करने लगता है, बाह्यविषयोंके साथ रमण या सम्बन्धको बिलकुल ही त्याग देता है, उसी रमणमें ही उनको परमा 'तृप्ति' मिलती है, जिससे बाह्यविषयकी कुछ भी अपेक्षा या चाह न रखता हुआ वह आत्मामें ही 'सन्तुष्ट' रह सकता है, तब संसारके साथ उसका कोई भी कर्त्तव्य

सम्बन्ध नहीं रह जाता है। वह प्रवृत्ति मार्गके विधिनिषेधसे सर्वथा अतीत हो जाता है। ऐसे आत्माराम मुक्तात्मा पुरुषका किसीके साथ कोई मतलब ही नहीं रहता है, उसको न कुछ करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है और न करनेके अभावमें ही कुछ प्रत्यवाय रहता है। क्योंकि वे इन सब द्वन्द्वोंसे परे ही रहते हैं। किन्तु इसके द्वारा यह नहीं सिद्धान्त करना चाहिये कि ऐसे आत्माराम मुक्तात्मा पुरुष कुछ करते ही नहीं। मुक्तात्मा पुरुष दो प्रकारसे कर्म करते हैं—एक प्रारब्धके वेगसे और दूसरा विराट केन्द्रकी प्रेरणासे। जिन कर्म्मोंके भोगार्थ उनको शरीर मिला था, मुक्त होने पर भी विना भोगे वे कर्म समाप्त नहीं हो सकते। इस लिये शास्त्रमें लिखा है—'प्रारब्धकर्मणा भोगादेव क्षयः' अर्थात् प्रारब्ध कर्मका भोगद्वारा ही क्षय होता है। इसी प्रारब्धभोगके लिये मुक्तात्माको कर्म करना पड़ता है। इन कर्मोंमें भी तारतम्य रहता है। सांख्य-योगके आश्रयसे जो पुरुष मुक्त हुए हैं, उनका प्रारब्ध थोड़ा रहता है, इसलिये मुक्तावस्थामें स्नान भोजन आदिके अतिरिक्त विरल ही वे कुछ कर्म करते हैं। किन्तु कर्मयोगके द्वारा जो पुरुष मुक्तिलाभ करते हैं, उनके प्रारब्ध संस्कारमें कर्मका वेग अधिक रहनेसे उनके द्वारा प्रारब्ध भोगरूपसे अनेक कर्म होते हैं। द्वितीयतः ऐसे पुरुषका केन्द्र यदि अनुकूल हो तो उस देशकालके उपयोगी जगत्कल्याणकर अनेक कर्म्म ईश्वरकी प्रेरणासे उनके द्वारा अनायास ही होते हैं। श्रीभगवान् शंकराचार्य, महर्षि याज्ञवल्क्य आदि ऐसी ही कोटिके मुक्तात्मा थे, जिनके द्वारा संसारमें धर्मरक्षाके अर्थ कितने ही महान् अलौकिक कर्म हो गये हैं। किन्तु वे सभी कर्म उनके द्वारा 'अनायास' होते हैं। इनमें उनकी व्यक्तिगत इच्छाशक्ति कुछ भी नहीं रहती है। इसीलिये श्रीभगवान्ने

कहा है कि उनका संसारके साथ कोई 'कर्त्तव्य' नहीं रहता है। यही इन दोनों श्लोकोंका तात्पर्य है ॥ १७-१८ ॥

आत्माराम पदवीका रहस्य बताकर अब उसकी प्राप्तिका उपाय बता रहे हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १६ ॥

अन्वय—तस्मात् (इसलिये) असक्तः (आसक्तिरहित होकर) सततं (सदा) कार्यं कर्म (वर्णाश्रमविहित कर्त्तव्य कर्मको) समाचर (किये जाओ) हि (क्योंकि) पुरुषः (मनुष्य) असक्तः (आसक्ति रहित होकर) कर्म आचरन् (कर्म करता हुआ) परं (परमपदको) आप्नोति (प्राप्त करता है)।

सरलार्थ—इसलिये आसक्ति छोड़ कर सदा वर्णाश्रमोचित कर्त्तव्यकर्मको करते रहो, क्योंकि ऐसे विहित कर्त्तव्यको करता हुआ ही मनुष्य परमगतिको प्राप्त करता है।

चन्द्रिका—कर्मचक्रके प्राकृतिक होनेसे उसका छोड़ना असम्भव तथा अवनतिकर है, अन्य पक्षमें निष्कामभावसे वर्णाश्रमविहित इसी कर्मको करता हुआ योगयुक्त पुरुष अन्तमे आत्मरति होकर कर्मचक्रसे परे तथा परमपद पर स्थित हो सकता है, जिस समय संसारके साथ उस मुक्तात्मा 'आत्मरति' योगीका कोई कर्त्तव्य सम्बन्ध नहीं रह जाता है और वह केवल प्रारब्ध वेगसे या भगवत्प्रेरणासे ही अनायास कर्म कर सकता है, अतः अर्जुनको भी फलाफलमें आसक्ति रहित होकर क्षत्रियव-

णोंचित अपने कर्त्तव्यका पालन करना चाहिये और इसीसे अंतमें अर्जुनको परमगति प्राप्त होगी यही श्रीभगवान्‌का उपदेश है ॥ १९ ॥

दृष्टान्त द्वारा इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन कर रहे हैं—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्त्तुमर्हसि ॥ २० ॥

अन्वय—जनकादयः (जनक आदि श्रेष्ठ पुरुषगण) कर्मणा एव हि (कर्मके द्वारा ही) संसिद्धिं आस्थिताः (मोक्षको पा गये हैं), लोकसंग्रहं एव अपि संपश्यन् (लोगोंको स्वधर्ममें प्रवृत्त करनेका प्रयोजन देखकर भी) कर्त्तुं अर्हसि (तुम्हें कर्म करना चाहिये)।

सरलार्थ—जनक, अश्वपति, अजातशत्रु आदि श्रेष्ठ पुरुषोंने कर्मके द्वारा ही मोक्ष लाभ किया है। इसके सिवाय लोकसंग्रह अर्थात् मनुष्योंको स्वधर्ममें प्रवृत्त करनेका प्रयोजन जानकर भी तुम्हें कर्म करना चाहिये।

चन्द्रिका—श्रीभगवान्‌में युक्त रह कर फलाफलमें समत्वबुद्धिके साथ कर्मयोगका अनुष्ठान करनेसे अन्तमें मोक्षलाभ होता है इसके दृष्टान्त जनक, अश्वपति, अजातशत्रु आदि मुक्तात्मागण है। वे सब मोक्षलाभसे पहिले भी योगरूपसे निष्काम कर्मका अनुष्ठान करते थे और जीवन्मुक्त अवस्थामें प्रारब्धक्षय तथा भगवत्प्रेरणाद्वारा जगत्कल्याणमें रत रहते थे। अतः अर्जुनको भी योगयुक्त होकर राजर्षि जनकादिके आदर्श पर अपने वर्णाश्रमोचित कर्त्तव्यका पालन करना चाहिये। इसके सिवाय 'लोक संग्रह' भी श्रेष्ठ पुरुषोंकी कर्मप्रवृत्तिका दूसरा कारण है। 'साधारण मनुष्य-

गण जिससे कुमार्गमें न पड़ जाय, किन्तु अपने धर्ममें ही बने रहे, उसको लोकसंग्रह कहते हैं। इस लोकसंग्रहके विचारसे भी श्रेष्ठ पुरुष चाहे वे मुक्त हों या न हों कर्म करते हैं, यही श्रीभगवान्‌के कथनका उद्देश्य है॥२०॥

क्यों ऐसा करना होता है इसीका कारण बता रहे हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥ २१ ॥

अन्वय—श्रेष्ठः (श्रेष्ठ पुरुष) यत् यत् आचरति (जो जो आचरण करते हैं) इतरः जनः (लौकिक साधारण मनुष्य) तत् तत् (वैसाही वैसा आचरण करता है)। सः (श्रेष्ठ पुरुष) यत् (जो कुछ) प्रमाणं कुरुते (प्रमाणरूपसे बताते हैं) लोकः (साधारणजन) तत् अनुवर्त्तते (उसीके अनुसार चलते हैं)।

सरलार्थ—श्रेष्ठ पुरुष जैसे जैसे आचरण करते हैं इतर-जन ऐसे ही ऐसे करने लगते हैं। जिन आचरणोंको श्रेष्ठ पुरुष प्रमाणरूपसे बताते हैं उन्हींके अनुसार लौकिक मनुष्य चलते हैं।

चन्द्रिका—श्रेष्ठ पुरुष लौकिक जीवोंके पथप्रदर्शक हैं। लौकिक जीवोंमें स्वयं विचार कर कर्त्तव्याकर्त्तव्य निर्णयकी शक्ति कम होनेके कारण वे सदा बड़ोंका ही अनुसरण करते हैं। इसलिये बड़ोंको सावधान होकर सदा ऐसा ही आचरण करना चाहिये जिससे आदर्श न बिगड़े, बड़ोंके बुरे आदर्शको देखकर छोटे खोटे रास्तेपर न चल पड़ें, किन्तु अपने ही धर्ममें बने रहें, इसीका नाम 'लोकसंग्रह' है। जब बड़ेको भगवान्‌ने बड़ा बनाया है तो संसारके प्रति उनका स्वाभाविक कर्त्तव्य यह है कि

अपने बड़प्पनको बनाये रक्खें, नहीं तो उनके अनुचित आचरणको देख-कर यदि छोटे बिगड़ें, तो उसका प्रत्यवाय बड़ेको अवश्य ही लगेगा और वे पापभागी होंगे। अतः श्रेष्ठजनके आदर्श बिगड़नेपर जब लौकिक-जन तथा श्रेष्ठजन दोनोंकी ही विशेष हानि तथा संसारकी हानि है, तो लोकसंग्रहार्थ प्रमाणरूपसे श्रेष्ठपुरुषोंको उत्तम आदर्श स्थापन अवश्य ही करना चाहिये और अर्जुन जैसे आदर्श पुरुषको इसी लोकसंग्रहके लिये वर्णाश्रमविहित कर्मयोगका अनुष्ठान अवश्य ही कर्त्तव्य है यही श्रीभग-वान्‌के उपदेशका निष्कर्ष है ॥ २१ ॥

अब अपने ही दृष्टान्त द्वारा इसी कर्त्तव्यकी ओर अर्जुन-का ध्यान दिला रहे हैं—

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥
यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ ! सर्वशः ॥ २३ ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) मे (मेरा) त्रिषु लोकेषु (तीन लोकोंमें) किञ्चन (कुछ भी) कर्त्तव्यं न अस्ति (कर्त्तव्य नहीं है) अनवाप्तं (कोई अप्राप्त वस्तु) अवाप्तव्यं न (पाने लायक भी नहीं है) कर्मणि वर्त्ते एव (तो भी मैं कर्म करता हूं)। हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) यदि अहं जातु (यदि मैं कदाचित्) अतन्द्रितः (आलस्य छोड़कर) कर्मणि

न वर्त्तेयं (कर्मानुष्ठान न करूँ)) मनुष्याः (संसारके लोग) सर्वशः (सब प्रकारसे) मम वर्त्म अनुवर्त्तन्ते (मेरे ही पथका अनुसरण करेंगे) चेत् (यदि) अहं (मैं) कर्म न कुर्य्यां (कर्म न करूं तो) इमे लोकाः उत्सीदेयुः (ये सब लोक नष्ट हो जायँगे), संकरस्य च (और ऐसा होनेपर मैं वर्णसंकरका) कर्त्ता स्यां (कर्त्ता होऊंगा) इमाः प्रजाः उपहन्याम् (इन प्रजाओंके नाशका भी कारण हो जाऊंगा)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! इन तीनों लोकोंमें मेरा कोई भी कर्त्तव्य नहीं है और न कोई अप्राप्त वस्तुका प्राप्त करना ही है, तथापि मैं कर्म करता रहता हूं। क्योंकि हे अर्जुन! यदि मैं अनलस होकर कदाचित् काम न करूं, तो सब मनुष्य मेरे ही आदर्शका अनुसरण करते हुए कर्म करना छोड़ देंगे। जिससे कर्मनाशसे धर्मनाश होकर प्रजाओंका नाश होगा, वर्णसंकर उत्पन्न होंगे और मैं ही इस प्रकारसे प्रजानाश तथा वर्णसंकरोत्पत्तिका कारण कहलाऊंगा।

चन्द्रिका—पूर्व श्लोकोंमें यही सिद्धान्त निश्चय हुआ है कि आत्मरति तथा आत्मतृप्त हो जाने पर कुछ कर्त्तव्य नहीं रहता है। अतः श्रीभगवान् जब स्वयं ही आत्मस्वरूप हैं तो संसारमें उनके लिये कर्त्तव्य क्या रह सकता है? किसी अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिके लिये स्पृहा होने पर भी जीव कर्म करने लगता है। किन्तु 'आप्तकाम' भगवान्में तो इस प्रकार स्पृहाकी ही सम्भावना नहीं हो सकती, अतः त्रिकालमें उनका कोई कर्त्तव्य भी नहीं रह सकता। तथापि वे अपने अवतारकालमें क्यों

कर्म करते हैं सो ही इन श्लोकोंमें बताया गया है। संसारमें साधारण जीव श्रेष्ठ पुरुषोंके ही आदर्शका अनुसरण करते हैं, भगवान् तो सर्वश्रेष्ठ हैं, अतः उनके आचरणोंका अनुसरण करना लौकिक जीवोंके लिये स्वाभाविक है। यही कारण है कि बड़े बड़े भगवान् रामचन्द्र आदि अवतारोंने भी लौकिक मर्यादाओंका भङ्ग नहीं किया था। श्रीभगवान् कृष्णने पूर्णावतार होने पर भी क्षत्रिय शरीर होनेके कारण युधिष्ठिरके यज्ञमें ब्राह्मणोंके चरण धोनेका काम किया था और सर्वज्ञ होने पर भी लौकिक मर्यादाके अनुसार सान्दीपनी मुनिका शिष्यत्व ग्रहण करके उनके पास विद्या पढ़ी थी और गुरुदक्षिणारूपसे उनके मृतपुत्रको जिला दिया था। ये ही सब उनके लौकिक आदर्श स्थापनके दृष्टान्त हैं। उनके इस प्रकार कर्म करनेका कारण यही है कि उनके कर्म त्याग कर देने पर उसी आदर्शका अनुकरण करता हुआ संसार भी कर्मत्याग कर देगा। वर्णाश्रमविहित नित्यनैमित्तिक कर्मोंका इस प्रकार लोप हो जानेसे संसारमें धर्मनाश होगा और धर्मनाशसे प्रजानाश तथा वर्ण-संकर प्रजाकी उत्पत्ति होगी, जिसका क्या क्या राष्ट्रनाशकारी विषमय परिणाम होगा सो प्रथमाध्यायमें पहिले ही बताया जा चुका है, और उनके ही अनुचित आदर्शके अनुकरण द्वारा ऐसी पापमयी स्थिति होनेके कारण वे ही इन सबके लिये 'जिम्मेवार' समझे जायेंगे, जो कि संसारके लिये बहुत ही हानिकारक होगा। अतः कर्तव्य न रहनेपर भी केवल लोकसंग्रहके लिये स्वयं श्रीभगवान् तकको जब कर्म करना पड़ता है तो कर्त्तव्यके शृङ्खलामें सर्वथा बद्ध अर्जुनको अपना क्षत्रियवर्णोचित कर्त्तव्य अवश्य ही करना चाहिये इसमें व्यक्तिगत, जातिगत तथा लोकगत सभी प्रकारका कल्याण है यही श्रीभगवान्‌का निज दृष्टान्त द्वारा उनके प्रति

तथा समस्त संसारके प्रति गम्भीर उपदेश है । 'पार्थ' इस सम्बोधनका यही तात्पर्य है कि तुम भी मेरे जैसे पवित्र क्षत्रियकुलोद्भव हो, इसलिये तुम्हें मेरे ही जैसा आचरण करना चाहिये । यहां पर इतना अवश्य ध्यान देने योग्य है कि लौकिक जीव भगवदवतारोंके लौकिक आदर्शोंका ही अनुकरण कर सकते हैं । उनके अलौकिक कार्योंका अनुकरण लौकिक जीवोंको कदापि नहीं करना चाहिये यथा श्रीमद्भागवतमें—

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥

अर्थात् अनीश्वर लौकिक जीवोंको अलौकिक ईश्वरके अलौकिक आचरणोंका अनुकरण कदापि नहीं करना चाहिये, क्योंकि जिस प्रकार विषपान करनेपर भी महेश्वर नीलकण्ठ ही हुए थे, किन्तु लौकिक जीव यदि विषपान करेगा तो उसका प्राण ही निकल जायगा ठीक उसी प्रकार लौकिक जीव यदि मूर्खतासे श्रीभगवान् या भगवदवतारोंके अलौकिक चरित्रोंका अनुकरण करेगा तो शक्तिहीनताके कारण नाशको ही पावेगा, कोई मङ्गल या लाभ नहीं पावेगा । श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके गोपीवस्त्रहरण, रासलीला, असंख्य पत्नी संग्रह, श्रीभगवान् रामचन्द्र द्वारा भीलनारीका उच्छिष्ट भोजन आदि ऐसे ही अलौकिक आचरण तथा चरित्र चर्चाके दृष्टान्त हैं, जिनके विषयमें लौकिक जनोंको अपने अपने अधिकारके अनुसार सावधान ही रहना चाहिये ॥२२–२४॥

अब लोकसंग्रहार्थ कर्म किस रीतिसे करना चाहिये सो ही बता रहे हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ! ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
योजयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

अन्वय—हे भारत ! (हे अर्जुन !) कर्मणि सक्ताः (कर्ममें फलाकाङ्क्षा द्वारा आसक्त) अविद्वांसः (अज्ञानी पुरुषगण) यथा कुर्वन्ति (जिस प्रकारसे कर्म करते हैं) लोकसंग्रहं चिकीर्षुः (लोक संग्रहकी इच्छा रखनेवाले) विद्वान् (ज्ञानी पुरुष) असक्तः (आसक्ति रहित होकर) तथा कुर्यात् (उसी प्रकारसे कर्मानुष्ठान करें)। कर्मसङ्गिनां अज्ञानां (कर्ममें आसक्त अज्ञजनोंका) बुद्धिभेदं न जनयेत् (बुद्धिभेद उत्पन्न नहीं करना चाहिये), विद्वान् (ज्ञानी पुरुष) युक्तः (योगयुक्त होकर) सर्वकर्माणि समाचरन् (सब कर्मोंको करते हुए) योजयेत् (अज्ञजनोंको कर्म-मार्गमें प्रवृत्त रक्खें)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! कर्ममें आसक्त अज्ञानी पुरुषगण जिस प्रकारसे कर्म करते हैं, ज्ञानी पुरुषको आसक्ति छोड़ कर केवल लोकसंग्रहकी इच्छासे उसी प्रकारसे कर्म करना चाहिये। कर्मासक्त अज्ञानियोंका बुद्धिभेद नहीं करना चाहिये। बल्कि विद्वान् जनको योगयुक्त होकर स्वयं सब कर्म करते हुए उन्हें कर्ममार्गमें प्रवृत्त रखना चाहिये।

चन्द्रिका—लौकिक जीव कर्ममार्गसे च्युत होकर भ्रष्ट न हो जांय इस विचारसे उन्हे कर्त्तव्यपथमें दृढ़ रखनेके अर्थ विद्वान् पुरुषोंके पथप्रदर्शकरूपसे कर्मका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये। इस प्रकारसे विद्वान् अविद्वान् दोनोंके द्वारा कर्मानुष्ठान देखे जानेपर भी दोनोंके भावमें

यही भिन्नता रहेगी कि विद्वान् पुरुष आसक्तिरहित होकर केवल लोक-संग्रहार्थ कर्म करेंगे और अविद्वान् लौकिक मनुष्य लौकिक वासनादि द्वारा प्रेरित होकर कर्म करेंगे। विद्वानोंमें भी अमुक्त विद्वान् लोकसंग्रहकार्यको अपना सामाजिक या जातिगत कर्त्तव्य समझ कर करेंगे और मुक्तात्मा विद्वान् कर्त्तव्य न रहने पर भी श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रकी तरह विराट्की प्रेरणासे जगतकल्याणके लिये करेंगे। किन्तु मुक्त अमुक्त सभी विद्वानोंको कर्म करना होगा। क्योंकि ऐसा न होनेसे लौकिक जनोंका 'बुद्धिभेद' हो सकता है, जो कि विद्वानोंके लिये कर्तव्य नहीं है। किसीके अधिकारविरुद्ध बात करने या आचरण करनेको, 'बुद्धिभेद' कहते हैं। जैसा कि अज्ञानी तथा कर्ममार्गके अधिकारी जनोंके पास यदि ज्ञानी पुरुष कर्मत्यागका उपदेश करें या स्वयं कर्मत्याग कर देवे तो अज्ञानी जनोंका बुद्धि-भेद हो जायगा वे यही समझ लेंगे कि जब उनके बड़े ज्ञानीजन कर्म नहीं करते तो उन्हें भी उनके आदर्शानुसार कर्मत्यागही कर देना चाहिये, इत्यादि। इस प्रकारसे बुद्धिभेद होनेपर कर्ममें फलाकांक्षा द्वारा आसक्त पुरुषोंकी हानि होगी और वे कर्मच्युत होकर न इधरके रहेंगे न उधरके। इसीलिये श्रीभगवान् उपदेश करते हैं कि कर्मासक्त पुरुषोंको एक बारगी कर्मसे हटा देना नहीं चाहिये, उन्हें कर्ममार्गमें ही प्रवृत्त करके उनमें ऐसी भावशुद्धिका उपदेश मिला देना चाहिये ताकि धीरे धीरे कर्माधिकारिगण कर्म करते हुए भी उसमें आसक्त न होकर कर्मबन्धनसे छूट जांय और निष्काम कर्मयोगके विमल आनन्दको प्राप्त कर सकें। और इस प्रकारसे लोकसंग्रहके लिये विद्वान् जनको योगयुक्त होकर स्वयं कर्म करना होगा। और उन्हें कर्ममार्गमें विधिके

साथ प्रवृत्त कराना होगा, क्योंकि स्वयं कर्म न करके केवल उपदेशके द्वारा ज्ञानी जन इसमें कृतकार्य नहीं हो सकते ॥ २५-२६ ॥

अब गुणविचार तथा प्रकृतिविचारसे इसी विज्ञानको और भी स्पष्टरूपसे कहते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो ! गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मंदान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

अन्वय—प्रकृतेः गुणैः (प्रकृतिके तीन गुणोंके द्वारा) सर्वशः (सब प्रकारसे) क्रियमाणानि कर्माणि (किये जाने वाले कर्मोंको) अहंकारविमूढात्मा (अहंकारसे मूढ़बुद्धि पुरुष) अहं कर्त्ता इति (मैं करता हूं ऐसा) मन्यते (समझता है)। तु (किन्तु) हे महाबाहो !) (हे अर्जुन !) गुणकर्म-विभागयोः तत्त्ववित् (गुण और कर्म आत्मासे विभिन्न है इस तत्त्वका जानने वाला) गुणाः गुणेषु वर्त्तन्ते (गुण गुण-हीमें रहते हैं आत्मामें नहीं) इति मत्वा (ऐसा समझकर) न सज्जते (इनमें आसक्त नहीं होता है)। प्रकृतेः (प्रकृतिके) गुणसंमूढ़ाः (गुणोंमें मोहित जन) गुणकर्मसु (गुण और कर्मोंमें) सज्जन्ते (आसक्त होते हैं), अकृत्स्नविदः (अपूर्ण-वेत्ता) मन्दान् तान् (मन्दमति उनको) कृत्स्नवित् (पूर्ण-

प्रज्ञ विद्वान् पुरुष) न विचालयेत् (बुद्धिभेद करके विच-लित न करें)।

सरलार्थ—प्रकृतिके तीन गुणोंके द्वारा ही संसारमें सब कुछ कर्म होते हैं, किन्तु अहंकारसे मूढ़बुद्धि पुरुष मैंने ही किया है, ऐसा समझता है। अन्यपक्षमें गुणकर्मसे आत्माकी पृथक्ताको पहिचाननेवाला तत्त्वज्ञानी पुरुष गुण गुणमें ही रहता है ऐसा समझ उनमें आसक्त नहीं होता। प्रकृतिके गुणोंमें मुग्ध प्राकृत जन गुण तथा कर्मोंमें बद्ध हो जाते हैं, सर्वदर्शी ज्ञानी पुरुषोंको चाहिये कि अल्पदर्शी उन मन्दमति जनोंको बुद्धिभेद द्वारा विचलित न कर देवें।

चन्द्रिका—विद्वान्‌जन कैसे रागरहित होकर कर्मयोगका अनुष्ठान करते हैं और उन्हीं कर्मोंमें अविद्वान्‌जन कैसे बद्ध हो जाते हैं यही इन श्लोकोंमें बताया गया है। प्रकृतिके सत्त्व, रज, तमरूपी तीन गुणोंके स्पन्दन तथा विकारसे संसारमें सभी प्रकारके कर्म उत्पन्न होते हैं, इसलिये इनका सम्बन्ध प्रकृतिसे तथा प्रकृतिपरिणामसे उत्पन्न स्थूल सूक्ष्म शरीरोंसे है। आत्माके साथ इनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। किन्तु जबतक जीवभावका नाश होकर आत्मतत्त्वका पता न लग जाय, तबतक स्थूल सूक्ष्मशरीरके साथ जीव अहंकार द्वारा आत्माका सम्बन्ध लगा रखता है और यही समझता रहता है कि शरीरके द्वारा किये हुए कर्मोंका आत्मा ही कर्त्ता है। यही मायाका बन्धन है। किन्तु इस मायासे परे पहुंचकर जो पुरुष तत्त्वज्ञान प्राप्त कर चुके हैं और प्रकृति तथा त्रिगुण एवं त्रिगुणजात समस्त कर्मोंके साथ आत्माका कोई भी सम्बन्ध नहीं है

इस रहस्यको भली भांति समझ गये है वे इन गुणोंमें नहीं फंसते हैं। वे गुणोंकी लीला गुणोंमें ही देखते हैं, आत्मामें नहीं देखते हैं, और आत्माको इन गुणोंसे तथा कर्मोंसे पृथक् जान कर कर्मबन्धनमें बद्ध नहीं होते हैं। यही योगयुक्त विद्वान् जनोंके आसक्तिरहित होकर कर्म करनेमें और अविद्वान् प्राकृत जनोंके अहंकार तथा ममतायुक्त होकर कर्म करनेमें अन्तर है। इसमें श्रीभगवान्का यही उपदेश है कि ऐसे प्राकृत जनोंका बुद्धिभेद नहीं करना चाहिये, इससे वे अपने सीधे स्वाभाविक पथसे विचलित होकर घबड़ा जाते हैं तथा किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं, उन्हें कर्ममार्गमेंही प्रवृत्त रख कर भावशुद्धि द्वारा धीरे धीरे निष्कामताकी ओर अग्रसर करना चाहिये ॥ २७—२९ ॥

विज्ञान बताकर अब कर्त्तव्यका निर्देश कर रहे हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

अन्वय—मयि (मुझमें) सर्वाणि कर्माणि (सकल कर्मोंको) अध्यात्मचेतसा (विवेक बुद्धिसे) संन्यस्य (समर्पण करके) निराशीः (फलाशारहित) निर्ममः (ममतारहित) भूत्वा (होकर) विगतज्वरः (शोकरहित हो) युध्यस्व (युद्ध करो)।

सरलार्थ—विवेकबुद्धि द्वारा मुझमें सब कर्म समर्पण करके आशा ममतारहित हो शोकशून्य हृदयसे युद्ध करो।

चन्द्रिका—कर्मके विषयमें समस्त विचार करनेके अनन्तर श्रीभगवान्ने अर्जुनके लिये यही कर्त्तव्य निश्चय कर दिया कि जब कर्म

करना स्वाभाविक है, ज्ञानी अज्ञानी सभीको किसी न किसी भावसे कर्म करना ही पड़ता है तो इस स्वभाव पर बलात्कार न करके अपने वर्णाश्रमके अनुसार कर्म करना ही उचित होगा। इसमें लोकसंग्रहकार्यमें भी बाधा न होगी, साधारण जनोंके लिये उत्तम आदर्शका भी स्थापन होगा और प्रकृतिके अनुकूल विहित कर्मका अनुष्ठान होने पर कर्मी आध्यात्मिक पथमें भी अग्रसर हो सकेंगे। केवल इसमें 'कौशल' इतना ही करना होगा कि 'अध्यात्मचेतसा' अर्थात् विवेक तथा योगयुक्त बुद्धिके साथ परमात्मामें फलाफलको समर्पण करते हुए कर्म करना होगा। अतः अर्जुनको भी लोकसंग्रह तथा आत्मलाभके विचारसे इसी योगबुद्धिके साथ युद्धकार्यरूपी अपने क्षत्रियधर्मका पालन करना चाहिये ॥ ३० ॥

ऐसा करने तथा न करनेका क्या परिणाम होता है सो ही बता रहे हैं—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

अन्वय—श्रद्धावन्तः (श्रद्धासे युक्त) अनसूयन्तः (दोषदर्शन न करनेवाले) ये मानवाः (जो मनुष्यगण) मे इदं मतं (मेरे इस मतका) नित्यं अनुतिष्ठन्ति (सदा अनुष्ठान करते हैं) ते अपि (वे ही) कर्मभिः मुच्यन्ते (कर्मबन्धनसे मुक्त होते हैं)। ये तु (किन्तु जो लोग) एतत् मे मतं अभ्य-

सूयन्तः (मेरे इस मतकी निन्दा करके) न अनुतिष्ठन्ति (इसका अनुष्ठान नहीं करते हैं) अचेतसः तान् (अविवेकी उनको) सर्वज्ञानविमूढान् (सकल ज्ञानसे शून्य) नष्टान् विद्धि (नष्ट जानो)।

सरलार्थ—मेरे इस मतका दोषदर्शन न करते हुए जो लोग श्रद्धाके साथ नित्य इसका अनुसरण करते हैं वे कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। किन्तु जो दोषदर्शी होकर इसका अनुसरण नहीं करते हैं, उन अविवेकी जनोंको सकलज्ञानसे शून्य तथा नष्ट जानो।

चन्द्रिका—स्वभावसे प्राप्त कर्मके विषयमें अपना समस्त मत तथा विचार प्रकट करके अत्र श्रीभगवान् यही सिद्धान्त निर्णय करते हैं कि इस कर्ममार्गका दोपदर्शन न करके श्रद्धा तथा योगयुक्त बुद्धिके साथ जो लोग इसका अनुष्ठान करते हैं उनको कर्मबन्धन प्राप्त न होकर समत्वबुद्धिके फलसे बन्धनमुक्ति ही मिलती है। गुणमें दोपदर्शन करनेको 'असूया' कहते हैं। असूयाका उदय होनेपर मोक्षदानकारी कर्मयोगमें भी जीवको बन्धनकारी अनेक दोप दीखने लगते है। ऐसे मनुष्य स्वभावविरुद्ध आचरण करके नाशको प्राप्त होते हैं। उनके अन्तःकरणमें निष्काम कर्मयोगके परिणामरूपी आत्मरति तथा आत्मज्ञानका उदय नहीं होता है, वे सकल ज्ञानसे विमुख ही रहते हैं। अधिकन्तु अनुचित आदर्शके स्थापन द्वारा लोकसंग्रहको विगाड़ कर वे प्रत्यवायके ही भागी होते हैं। अतः प्रकृतिके अनुकूल कर्ममार्गमें योगबुद्धिके साथ प्रवृत्त रहना ही प्रत्येक व्यक्तिका कर्त्तव्य है ॥ ३१-३२ ॥

अब इसी प्रकृतिके स्वाभाविक वेगको दिखाकर संयमकी उचित विधि बता रहे हैं—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

अन्वय—ज्ञानवान् अपि (ज्ञानी पुरुष भी) स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं (अपनी प्रकृतिके अनुरूप) चेष्टते (चेष्टा करता है), भूतानि (प्राणि समूह) प्रकृतिं यान्ति (अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही चलते हैं) निग्रहः किं करिष्यति (इसलिये जबरदस्ती प्रकृतिके रोकनेसे क्या फल होगा) ? इन्द्रियस्य (इन्द्रियका) इद्रियस्यार्थे (रूपरसादि इन्द्रिय विषयमें) रागद्वेषौ (अनुकूल विषयके प्रति राग और प्रतिकूल विषयके प्रति द्वेष) व्यवस्थितौ (स्वभावसे निश्चित है), तयोः (रागद्वेषके) वशं न आगच्छेत् (वशमें नहीं आना चाहिये) हि (क्योंकि) तो (रागद्वेष) अस्य परिपन्थिनौ (जीवके उन्नतिमार्गके विरोधी शत्रु हैं) ।

सरलार्थ—ज्ञानी जन भी अपनी प्रकृतिके अनुरूप ही चेष्टा करते हैं. समस्त जीव प्रकृतिका ही अनुसरण करते हैं, अतः बलात्कार या जबरदस्तीसे प्रकृतिके रोकनेमें क्या फल होगा ? आत्माके अनुकूल विषयमें इन्द्रियोंका राग और प्रति-

कूल विषयमें द्वेष स्वभावसे ही निश्चित है, तथापि रागद्वेषके वशमें नहीं आना चाहिये, क्योंकि वे कल्याण मार्गके सदा विरोधी होते हैं।

चन्द्रिका—पूर्वजन्मके कर्मानुसार जिस जीवको जो स्वभाव प्राप्त हुआ है उसीको यहांपर 'प्रकृति' कहा गया है। ज्ञानी अज्ञानी सभीको इसी प्रकृतिके अनुरूप कार्य करना पड़ता है। जिस आत्मरति ज्ञानवान् पुरुषका संसारमें कोई भी कर्त्तव्य नहीं है, उसे भी प्रकृतिकी ही प्रेरणाके अनुसार 'भोजन शयनादि' व्यापारोंको करना ही पड़ता है। अतः अब जबरदस्ती प्रकृतिका रोक देना असम्भव है, तो कर्त्तव्य यही होना चाहिये कि रागद्वेषके वशीभूत न होकर निष्काम बुद्धि तथा समत्व-बुद्धिके साथ स्वभावसे प्राप्त प्रकृतिके अनुरूप वर्णधर्म तथा आश्रमधर्ममें विहित कर्मोंका अनुष्ठान किया जाय। इससे लोकसंग्रह भी नहीं बिगड़ेगा और प्रकृतिके अनुकूल कल्याणपथमें प्रवृत्त रहनेसे अपनी पूर्ण उन्नति हो जायगी। इसमें केवल इतना ही करना होगा कि रागद्वेषादि छोटी मोटी वृत्तियोंको दबा कर वर्णाश्रम विहित प्रकृतिके अनुसार कर्त्तव्योंको करते रहना होगा। क्योंकि विषयोंके प्रति रागद्वेष ही द्वैत तथा द्वन्द्वकी सृष्टि करके जीवको संसारचक्रमें घुमाया करता है। अतः राग-द्वेषका वशीभूत न होना तथा प्रकृति अनुकूल सत्पथमें निष्कामभावसे प्रवृत्त रहना यही परमश्रेयःका निश्चित मार्ग है और यही श्रीभगवान्के उपदेशका सारतत्त्व है ॥ ३३–३४ ॥

अब उपसंहारमें प्रकृतिके अनुकूल स्वधर्मपालनकी विशेष उपयोगिता बता रहे हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः । ३५ ॥

अन्वय—स्वनुष्ठितात् परधर्मात् (सब अङ्गोंसे पूर्ण अनुष्ठित परधर्मकी अपेक्षा) विगुणः (अङ्गहीन सदोष) स्वधर्मः (अपना धर्म) श्रेयान् (कल्याणकारक है) स्वधर्मे (अपने धर्ममें) निधनं श्रेयः (मरना भी अच्छा है) परधर्मः भयावहः (किन्तु दूसरेका धर्माचरण भयोत्पादक है) ।

सरलार्थ—सब अङ्गोंके द्वारा पूर्ण परधर्मकी अपेक्षा आंशिक अङ्गहीन अपना धर्म अधिक कल्याणकारी है, अपने धर्ममें मृत्यु भी अच्छी है किन्तु परधर्मका आचरण भयदेनेवाला है ।

चन्द्रिका—इस श्लोकमें प्रकृतिकी बलवत्ताकी पराकाष्ठा दिखाई गई है । योगदर्शनमें लिखा है—'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः' अर्थात् पूर्वकर्मके सात्त्विक आदि प्रकृति भेदके अनुसार जीवको ब्राह्मणादि जाति, आयु तथा भोग मिलते हैं । जो मनुष्य जिस धर्ममें उत्पन्न होता है, उसके भी मूलमें पूर्वकर्म ही है । अतः जब पूर्वकर्मके अनुसार प्रकृति बनी और प्रकृतिके अनुरूप धर्ममें ही जन्म हुआ, तो वही स्वधर्म उन्नतिका सच्चा कारण बन सकता है । यदि स्वधर्ममें कोई अङ्गहीनता या अपूर्णता भी हो, तथापि प्रकृतिके अनुकूल होनेके कारण उससे उन्नति ही होगी, इसलिये स्वधर्म ही श्रेष्ठ है, दूसरेका धर्म सब अङ्गोंके पूर्ण होनेपर भी अपनी जन्मगत प्रकृतिके विपरीत होनेके कारण उससे कदापि कल्याण नहीं होगा । इस कारण यदि बलात्कार या हठसे भी कोई परधर्मका अनुष्ठान करने लगे तो भी वह अवनति तथा अकल्याणको ही उत्पन्न

करेगा। यही कारण है कि श्रीभगवान्‌ने स्वधर्ममें मरना भी अच्छा बताया है और परधर्मको भयजनक कहा है। अतः अर्जुनको भी ब्राह्मण-धर्म या संन्यासाश्रमधर्मरूपी भिक्षान्न भोजनादिकी चिन्ताको छोड़ कर क्षत्रियवर्णके अनुकूल धर्मयुद्धमें योगयुक्तभावसे प्रवृत्त होना चाहिये यही श्रीभगवान्‌के उपदेशका आशय है ॥३५॥

अब प्रसङ्गानुसार प्रकृति तथा इन्द्रियोंकी बलवत्ताके विषयमें अर्जुन प्रश्न करते हैं—

अ० उ०—अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अन्वय—हे वार्ष्णेय ! (हे वृष्णिवंशज कृष्ण !) अथ (अब बतावे) अयं पूरुषः (संसारका जीव) अनिच्छन् अपि (इच्छा न करने पर भी) केन प्रयुक्तः (किसके द्वारा प्रेरित होकर) बलात् नियोजितः इव (जबरदस्ती घसीटे जानेकी तरह) पापं चरति (पाप करता है)?

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण ! अब बतावें मनुष्यका ऐसा कौन शत्रु है जो इच्छा न होने पर भी जबरदस्ती मनुष्यको पापपङ्कमें घसीट ले जाता है ?

चन्द्रिका—श्रीभगवान्‌ने पूर्वश्लोकोंमें यही बताया है कि प्रकृति तथा इन्द्रियोंका एकाएक रोकना बड़ा ही कठिन है, वे रोके भी नहीं रुकते, बलात् जीवको विषयमें प्रवृत्त कर देते हैं, इस कारण इनको जबर-दस्ती न रोक कर निष्कामभावसे इन्हें विषयमें ही लगा रखना चाहिये, जिससे आपसे आप इनकी स्वाभाविक गति सरल हो जाय और वे दुःखके

कारण न वन कर योगमार्गके सहायक ही बन सकें। अब इसी प्रसङ्गका आश्रय करके अर्जुन प्रश्न करते हैं कि कौनसी इन्द्रिय सबसे अधिक वलवती है जिसके द्वारा मनुष्य इच्छा न होने पर भी जबरदस्ती विषय तथा पापमें घसीटा जाता है। 'वार्ष्णेय' सम्बोधन द्वारा यही भाव प्रकट किया गया है कि तुम वृष्णिवंश अर्थात् मेरे मातामहके वंशमें प्रकट हुए हो, इस कारण आत्मीय जानकर मुझ दीनके प्रति उपेक्षा नहीं करोगे ॥३६॥

अब प्रश्नके अनुरूप विस्तृत उत्तर दे रहे हैं:--

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय! दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

अन्वय—रजोगुणसमुद्भवः (रजोगुणसे उत्पन्न) महाशनः (महान् पेटू) महापाप्मा (महान् पापी) एषः कामः एषः क्रोधः (काम और क्रोध) इह (आत्मोन्नति पथमें) एनं (कामको) वैरिणं विद्धि (शत्रु समझो) यथा (जिस प्रकार) वह्निः (अग्नि) धूमेन (धुएंसे) आव्रियते (ढक जाती है) आदर्शः मलेन च (और दर्पण या सीसा धूलसे

शत्रुता बताई गई है। द्वितीयाध्यायमें पहिले ही कहा गया है कि 'कामात् क्रोधोऽभिजायते' अर्थात् कामसे ही क्रोधकी उत्पत्ति होती है, कामकी अतृप्तिमें क्रोध उत्पन्न हो जाता है। इसलिये इन श्लोकोंमें प्रथमतः काम क्रोध दोनोंका ही नाम लेकर पश्चात् कामके ही विषयमें कहा गया है। कामकी उत्पत्ति रजोगुणमें है, काम प्रवृत्तिमूलक तथा रागमूलक है, प्रवृत्ति, राग ये सब रजोगुणके धर्म हैं, अतः कामकी उत्पत्ति रजोगुणमे हुई। कामकी उत्पत्ति रजोगुणमें होनेपर भी अवस्थाभेदसे काम सात्त्विक और तामसिक भी हो सकता है। जो काम धर्मसे अविरुद्ध है, संसारमे कुलभूषण, देशसेवक सुसन्तानकी उत्पत्तिके लिये गर्भाधान संस्कारके अनुसार प्रयुक्त है वह सात्त्विक काम है। और धर्महीन, विचारहीन, प्रमाद-युक्त, घोर पशुभावसे कलुषित काम तामसिक है। यही कामरूपी शत्रु बहुत बलवान् है, और इसीके द्वारा इच्छा न होने पर भी जबरदस्ती लोग पापकर्ममें लिप्त हो जाते हैं, यही अर्जुनके प्रश्नके समाधानमें श्रीभगवान्का उत्तर है। काम 'महाशन' है। अर्थात् कितनी ही खुराक मिलने पर भी कामकी तृप्ति नहीं होती है। मनुसंहितामें लिखा है—

न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

कामसेवाके द्वारा कामका वेग कभी शान्त नहीं होता है, किन्तु घृत-पुष्ट अग्निकी तरह और भी बढ़ने लगता है। यही कामके 'महाशन' होनेका लक्षण है। अतः इस प्रकार कामके वशीभूत होने पर मनुष्य अनेक पाप करेंगे, इसमें क्या सन्देह है। इसलिये कामको 'महापाप्मा' भी कहा गया है। कामकी तीन दशाएं होती हैं यथा—संस्कारदशा, चिन्त्यमानदशा और भुज्यमानदशा। कामकी स्थूल भोगदशाको 'भुज्यमान'

दशा कहते हैं। चित्तमें जब कामका संकल्प विकल्प होता रहता है, उसीको 'चिन्त्यमान' दशा कहते हैं। और संकल्पविकल्पशून्य सूक्ष्म संस्काररूपमें जब काम चित्तमें रहता है उसीको 'संस्कारदशा' कहते हैं। इन्हीं तीन दशाओंके वर्णनके लिये 'धूमेनाव्रियते वह्निः' इत्यादि तीन दृष्टान्त दिये गये हैं। काम ज्ञानका परमशत्रु है क्योंकि ज्ञान अद्वैत भावको प्रकाशित करके जीवको आत्माकी ओर ले जाता है और काम अविद्यामय द्वैतभावको उत्पन्न करके जीवको संसारजालमें फंसा देता है। अतः जहां काम वहां ज्ञान नहीं और जहां ज्ञान वहां काम नहीं। दोनोंका कदापि साहचर्य नहीं हो सकता है, काम ज्ञान तथा ज्ञानीका नित्यशत्रु है, किन्तु जिस प्रकार धुंएके द्वारा अग्नि आवृत होनेपर भी जलानेका काम कर सकती है, उसी प्रकार कामकी संस्कारदशामें ज्ञान थोड़ा बहुत आवृत होने पर भी पूर्ण नाशको प्राप्त नहीं होता है। द्वितीयतः जिस प्रकार धूलसे सीसा ढक जाने पर प्रतिविम्ब तो नहीं ले सकता है किन्तु उसका स्वरूप नहीं नष्ट होता है, उसी प्रकार चिन्त्यमान दशामें काम ज्ञानके कार्यको तो रोक देता है, किन्तु स्वरूप नष्ट नहीं कर सकता है। तृतीय दृष्टान्त कामकी भुज्यमान दशाका है। झिल्लीके द्वारा आवृत होनेपर गर्भस्थित सन्तानका कुछ भी पता नहीं लगता है और न वह हाथ पैर फैला ही सकता है। ठीक उसी प्रकार कामकी इस तृतीय दशामें ज्ञानका प्रकाश एक वारगी ही नष्ट हो जाता है और विषयभोगी जीव मलिन विषयपङ्कमें मग्न होकर अपने मनुष्यत्वको सम्पूर्ण रूपसे नष्ट कर डालता है। ये ही कामकी तीन दशाओंके वर्णनके लिये तीन दृष्टान्त समझने चाहिये। काम प्रत्यक्ष अग्नि या 'अनल' रूप है। जिसका 'अलम्' अर्थात् समाप्ति नहीं है, उसे अनल कहते हैं। कामकी तृष्णा तो कभी

मिटती ही नहीं, इसलिये काम अनलरूप तथा 'दुष्पूर' अर्थात् दुःखसे पूर्ण या समाप्त होनेवाला है । शास्त्रमें लिखा है—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥

समस्त संसारमें जितने धनधान्य, सुवर्ण, पशु या स्त्रियां हैं, सभी यदि एक ही मनुष्यको मिल जांय तथापि तृष्णा नहीं मिटती है, ऐसा जान कर कामकी वृद्धि न करके उसे शान्त रखना ही अच्छा है । इन्द्रियां, मन और बुद्धि यह कामका आश्रय स्थान है । इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंके दर्शन, श्रवण, उपभोग आदि रूपसे, मनके द्वारा विषयोंके सङ्कल्प विकल्प आदि रूपसे तथा बुद्धिके द्वारा विषयसेवाके विषयमें निश्चयता या विचार आदि रूपसे कामका विकाश होता है । इन्हीं स्थानोंमें रहकर इन्हींके द्वारा काम ज्ञानको आच्छन्न करके जीवको विमोहित कर देता है ॥३७–४०॥

कामका प्रभाव बताकर अब उसके दमनके विषयमें उपदेश देते हैं—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ! ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो ! कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ।

अन्वय—हे भरतर्षभ! (हे भरतकुलभूषण अर्जुन!) तस्मात् (इस लिये) त्वं (तुम) आदौ (पहिले) इन्द्रियाणि नियम्य (इन्द्रियोंका संयम करके) ज्ञानविज्ञाननाशनं (आत्मा के विषयमें ज्ञान तथा अनुभवके नाशकारी) पाप्मानं (पाप-रूपी) एनं हि प्रजहि (इस कामका निश्चय हो नाश कर दो) इन्द्रियाणि (इन्द्रियोंको) पराणि (स्थूल देहसे परे) आहुः (पण्डितोंने कहा है), इन्द्रियेभ्यः (इन्द्रियोंसे) मनः परं (परे मन है), मनसः तु बुद्धिः परा (मनसे परे बुद्धि है), यः तु बुद्धेः परतः (जो किन्तु बुद्धिसे परे है) सः (वही आत्मा है)। हे महाबाहो! (हे वीर अर्जुन!) एवं (इस तरहसे) बुद्धेः परं (बुद्धिसे परे) बुद्ध्वा (आत्माको जान कर) आत्मना आत्मानं (अपनेसे अपनेको) संस्तभ्य (रोक कर) कामरूपं (कामरूपी) दुरासदं (दुर्ज्ञेय अर्थात् जिसके व्यापार तथा रहस्यको जानना अति कठिन है ऐसे) शत्रुं (शत्रुको) जहि (मार डालो)।

सरलार्थ—इसलिये हे अर्जुन! सबसे पहिले इन्द्रियों-को वशमें लाकर तुम ज्ञान तथा आत्मानुभवके नाशकारी इस पापरूपी कामका नाश कर दो। इन्द्रियगण स्थूलदेहसे परे हैं, इन्द्रियोंसे परे मन है, मनसे परे बुद्धि है और बुद्धिसे परे आत्मा है। इस प्रकार बुद्धिसे परे आत्माको समझ कर अपने-से अपनेको रोकते हुए दुर्विज्ञेय कामरूपी शत्रुका निधन करो।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें कामके निधनका उपाय तथा 'भरतर्षभ'

और 'महावाहो' सम्बोधनों द्वारा अर्जुनका वंशगौरव तथा वीरता बताकर निधन सामर्थ्य बताई गई है। 'आदौ' अर्थात् सबसे पहिले कामका नाश करना ही अत्यावश्यक है। क्योंकि आत्मोन्नतिके पथमें यही अतिकठिन कण्टक है। इन्द्रियोंके दमन द्वारा इसका नाश जब तक न हो तब तक ज्ञानका प्रकाश कदापि नहीं हो सकता है। काम आत्माके विषयमें शास्त्रीय ज्ञान रूपी ज्ञान और अनुभव रूपी विज्ञान दोनों हीका नाशक है। यही ज्ञानविज्ञाननाशनम्' शब्दका तात्पर्य है। आत्मा इन्द्रिय, मन, बुद्धि सबसे परे है। इन्द्रियां सूक्ष्म होनेके कारण स्थूलशरीरसे परे हैं, मन इन्द्रियोंका चालक होनेके कारण इन्द्रियोंसे परे है, बुद्धि निश्चयात्मिका होनेके कारण चञ्चल सङ्कल्पविकल्पकारी मनसे परे है। किन्तु आत्मा बुद्धिका प्रकाशक तथा प्रेरक होनेके कारण उससे भी परे है। इस तरहसे संयम तथा आत्माके विषयमें विशेप ज्ञानके द्वारा ही काम पर विजयलाभ हो सकता है। पहिले ही कहा गया है कि 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते' (गीता २ य अध्याय) अर्थात् आत्माका दर्शन हो जाने पर कामका सूक्ष्म संस्कार भी नष्ट हो जाता है। नहीं तो केवल इन्द्रियदमन द्वारा भुज्यमान और चिन्त्यमान दशागत काम नष्ट होने पर भी संस्कार दशागत काम नहीं नष्ट हो सकता है। योगदर्शनमें भी कहा है—

'ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः' 'ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः'

विपयकी वृत्तियां आत्माके ध्यान आदि द्वारा नष्ट हो सकती हैं, किन्तु ज्ञान द्वारा प्रपञ्चविलासका लय हुए विना विपयकी सूक्ष्म वृत्तियां नहीं नष्ट हो सकती हैं। इसलिये कर्त्तव्य यह है कि अपनेसे अपनेको रोक, कर,

आत्माके विषयमें ज्ञानलाभ करके भीषणशत्रु कामका अतियत्नसे नाश कर दिया जाय। यह शत्रु जैसा भीषण है, वैसा ही 'दुरासद' भी है। अर्थात् इसके छलका पता लगाना अतिकठिन है। कभी यह प्रेमरूपमें, कभी दयारूपमें, कभी मोहरूपमें, कभी रूपतृष्णा आदि रूपमें अज्ञातरूपसे ही चित्तक्षेत्रको ऐसा ग्रास कर लेता है कि एकाएक पता ही नहीं चलता है, कि इस शत्रुने शरीररूपी मकानपर कैसे कब्ज़ा कर लिया। अतः यह 'दुरासद्' अर्थात् इसका रहस्य तथा कौशल कठिनतासे ही जानने योग्य है। और इसी कारण आत्मोन्नतिपथमें तथा योगपथमे प्रबल शत्रु 'काम' ही सबसे प्रथम जीतने योग्य है यही श्रीभगवान्‌के उपदेशका निष्कर्ष है ॥४१-४३॥

इस प्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्‌में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत
योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'कर्मयोग' नामक
तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

तृतीय अध्याय समाप्त।



चतुर्थोऽध्यायः ।

—:o※o:—

तृतीयाध्यायमें कर्मयोगका रहस्य तथा अधिकार निर्णय करके अब इस अध्यायमें उसीकी पुष्टि की जाती है। राज्यपालन, धर्मरक्षण, शत्रुदमन आदि व्यापारमें क्षत्रियवर्णको ही कर्मयोगका विशेष आश्रय लेना पड़ता है, इस कारण वंश परम्पराक्रमसे भी इस अध्यायमें इस योगकी प्रशंसा की गई है। आत्मरति तथा ज्ञानोदय हो जानेपर ज्ञानीके लिये कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता है, वह केवल प्रारब्धादि वेगसे अनायास ही कर्म करता रहता है, तृतीयाध्यायमें कथित इस विज्ञानपर भी इस अध्यायमें यथेष्ट विवेचन किया गया है। इस प्रकारसे अनेक यज्ञ तथा ज्ञानयज्ञमें सबकी परिसमाप्ति इस अध्यायका प्रतिपाद्य विषय है। इसी विषयका सूत्र अवलम्बन करके प्रथमतः श्रीभगवान् अपने श्रीमुखवर्णित दुर्लभ योगका परम्परानिर्णय कर रहे हैं—

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ! ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ४ ॥

अन्वय—अहं (मैंने) विवस्वते (सूर्य देवताको) इमं अव्ययं (यह निश्चित फलदायक) योगं प्रोक्तवान् (योग कहा था), विवस्वान् मनवे प्राह (सूर्यने अपने पुत्र मनुको कहा था), मनुः इक्ष्वाकवे अब्रवीत् (मनुने अपने पुत्र इक्ष्वाकुको बताया था)। एवं (इस तरहसे) परम्पराप्राप्तं इमं (वंशक्रमसे प्राप्त इस योगको) राजर्षयः विदुः (निमि आदि राजर्षियोंने जाना था), हे परन्तप ! (हे शत्रुतापन अर्जुन !) सः योगः (वही योग) इह (इसलोकमें) महता कालेन (दारुण धर्मनाशकारी कालप्रभावसे) नष्टः (लुप्त हो गया)। मे भक्तः सखा च असि (तुम मेरे भक्त और सखा हो) इति (इसलिये) सः एव अयं पुरातनः योगः (वही सम्प्रदायके अभावसे लुप्त प्राचीन योग) मया अद्य ते प्रोक्तः (आज मैंने तुम्हें कहा) हि (क्योंकि) एतत् (यह योग) उत्तमं रहस्यम् (उत्तम गोपनीय वस्तु है, अतः अनधिकारीको कहने योग्य नहीं है)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्ने कहा—मैंने प्रथमतः यह अव्यय योग सूर्यदेवताको कहा था। तदनन्तर सूर्यने मनुको और मनुने अपने पुत्र इक्ष्वाकुको यह योग बताया था। इस प्रकार वंश-परम्परा क्रमसे यह योग राजर्षियोंको विदित हुआ था, किन्तु कालप्रभावसे धर्मह्रासके साथ ही साथ यह योग भी सम्प्रदाय-

के अभावसे विच्छिन्न हो गया था, अब अनुकूल देश काल जान कर मैंने आज तुम्हें यह अत्युत्तम रहस्यमय योग बता दिया क्योंकि तुम मेरे भक्त तथा सखा हो, इस कारण योग सुननेके अधिकारी हो ।

चन्द्रिका—मनुसंहितामें लिखा है—

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते ।
ब्रह्मक्षत्रं तु सम्पृक्तमिह चामुत्र वर्द्धते ॥

ब्राह्मणोंकी ज्ञानशक्ति और क्षत्रियोंकी कर्मशक्ति इन दोनोंकी परस्पर सहायता द्वारा ही इहलोक और परलोकमें सकल प्रकारकी उन्नति होती है । इस कारण क्षत्रिय जातिमें कर्मशक्तिके उद्बोधनार्थ क्षत्रियवंशके आदि पिता तथा देवताओंमें श्रेष्ठ क्षत्रिय सूर्यदेवको ही स्वभावतः श्रीभगवान्‌ने इस कर्मयोगका उपदेश दिया था । तदनन्तर मानव जातिके आदि पुरुष राजर्षि मनुको सूर्यदेवसे यह उपदेश मिला और त्रेतायुगमें मनुके द्वारा राजा इक्ष्वाकुको यह उपदेश प्राप्त हुआ । महाभारतके नारायणीय उपाख्यानमें इसका विस्तृत वर्णन मिलता है यथा—

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ ॥ इत्यादि ॥

त्रेतायुगके आदिमें सूर्यने मनुको यह योग दिया और मनुने प्रजारक्षाके लिये अपने पुत्र इक्ष्वाकुको यह योग दिया । यहां पर 'सूर्य'का अर्थ स्थूल सूर्यगोलक नहीं है, किन्तु सूर्य गोलक पर अधिष्ठान करनेवाले तथा उस प्रकाशके संचालक सूर्यदेवता हैं । इसी देवताके द्वारा क्षत्रिय जातिमें प्रकट यह रहस्यमय कर्मयोग राजा इक्ष्वाकुके द्वारा अनेक राजर्षि

तथा क्षत्रियोंमें वंशपरम्पराक्रमसे विस्तृत हो गया था। किन्तु त्रेताके अन्तमें तथा द्वापरके मध्यमें क्रमशः धर्मह्रासके साथ साथ यह योग प्रच्छन्न हो गया था। अब अर्जुनको अधिकारी तथा देशकालको अनुकूल जानकर श्रीभगवान्‌ने इस अलौकिक रहस्यमय योगका उपदेश किया ताकि अर्जुन इस योगसे युक्त होकर स्वधर्मपालन तथा श्रीभगवान्‌के अवतार कार्यमें सहायता करें और संसारके लोग भी इससे समुचित शिक्षा लाभ करें। अर्जुन 'परन्तप' अर्थात् स्थूल शत्रुओंके साथ साथ कामादि अन्तः शत्रुओंको भी तपाने वाला है, भगवान्‌का भक्त भी है और समप्राण स्निग्धहृदय सखा भी है, अतः अर्जुनको ही इतने कालके बाद रहस्यमय कर्मयोग लाभ करनेका सौभाग्य तथा अधिकार प्राप्त हुआ है, यही इन श्लोकोंका तात्पर्य है ॥ १-३ ।

वसुदेवसे उत्पन्न श्रीभगवान्‌के लौकिक देहके विचारसे परम्पराके विषयमें लौकिक जीवोंको सन्देह न हो इसीका निराकरण अर्जुन प्रश्न द्वारा करा रहे हैं—

अर्जुन उवाच ।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अन्वय—भवतः जन्म (तुम्हारा जन्म) अपरं (अभी हुआ है), विवस्वतः जन्म (सूर्यका जन्म) परं (पहिले अर्थात् सृष्टिके आदिकालमें हुआ है) त्वं आदौ प्रोक्तवान् (तुमने पहिले सूर्यको कहा है) इति एतत् कथं विजानीयाम् (यह मैं कैसे जानूं) ?

सरलार्थ—अर्जुनने कहा–तुम्हारा जन्म वसुदेवगृहमें अभी थोड़े ही वर्ष हुए हुआ है और सूर्यदेवकी उत्पत्ति इससे बहुत पहिले सृष्टिके आदिकालमें हुई है। अतः कैसे मैं यह समझूं कि तुमने पहिले यह योग सूर्यको बताया था ?

चन्द्रिका—यह प्रश्न अर्जुनकी विज्ञताके अनुरूप न होने पर भी लौकिक जीवोंकी लौकिक बुद्धिके अनुरूप अवश्य है। इसी कारण लौकिक जगत्में श्रीभगवान्के।ऐसा कहनेसे भ्रम उत्पन्न न हो अतः इसी आशंकाका निवारण अर्जुन-मुखसे कर दिया गया है। श्रीभगवान्का लौकिक देह प्रत्यक्ष होने पर भी वह वास्तवतः कुछ भी नहीं है, इसी प्रकार उनके जन्मादि भी दिव्य ही होते हैं, इन बातों पर लौकिक जीवोंका सहसा विश्वास नहीं जमता है। अतः प्रश्नोत्तररूपसे इनका समाधान करना आवश्यक है ॥४॥

अब प्रश्नानुरूप समाधान करते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ! ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ! ॥५॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥६॥

अन्वय—हे परन्तप अर्जुन ! (हे परन्तप अर्जुन !) मे तव च (मेरे और तुम्हारे) बहूनि जन्मानि (अनेक जन्म) व्यतीतानि (हो चुके हैं), अहं (मैं) तानि सर्वाणि (उन सबको) वेद (जानता हूँ) त्वं न वेत्थ (तुम नहीं जानते हो)

अजः अपि सन् (जन्म रहित होनेपर भी) अव्ययात्मा (नाश रहित स्वभाव) भूतानां ईश्वरः अपि सन् (जीवोंके प्रभु कर्मोंके वशमें न आने वाले होनेपर भी) स्वां प्रकृतिं अधिष्ठाय (अपनी माया पर अधिष्ठान करके उसे वशमें लाकर) आत्ममायया (अपनी माया द्वारा) सम्भवामि (शरीर धारीकी तरह प्रतीत होता हूँ)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्‌ने कहा-हे परन्तप अर्जुन! तुम्हारे और मेरे अनेक जन्म बीत चुके हैं। मैं सर्वज्ञ होनेके कारण उन सबको जानता हूँ, किन्तु तुम अल्पज्ञ होनेके कारण उन्हें नहीं जानते हो। मैं जन्मरहित, नाशरहित तथा सबका प्रभु और कर्मपरतन्त्र न होने पर भी अवतार रूपसे प्रकट होते समय अपनी मायाको वशमें लाकर उसी सत्त्वगुणमयी माया द्वारा देहधारीकी तरह प्रतीत होने लगता हूं।

चन्द्रिका—श्रीभगवान् तथा अर्जुनके अनेक जन्म हो चुके हैं, इसलिये सूर्यदेवको किसी पूर्व जन्ममें योग बताना भगवान्‌के लिये असम्भव नहीं हो सकता है, यही लौकिक जीवोंकी इस विषयमें शंकाका उत्तर है। श्रीभगवान् सर्वज्ञ हैं इसलिये उनको अपने सब जन्मोका पता है, किन्तु अर्जुन, अल्पज्ञ हैं इसलिये उन्हें पता नहीं है, यही अर्जुनके तथा अल्पज्ञ लौकिक जीवोंके शंका करनेका कारण है। और 'अर्जुन' शब्दके द्वारा 'अर्जुन' वृक्षकी ओर इङ्गित करके श्रीभगवान्‌ने अर्जुनकी अल्पज्ञताको सूचित भी कर दिया है। किन्तु 'भगवान्' तो 'अज' अर्थात् जन्मरहित हैं, 'अव्ययात्मा' अर्थात् अविनाशी अक्षय स्वरूप हैं, कर्मपरतन्त्रता-

हीन प्रभु ईश्वर हैं, उनका जन्म लेना कैसे सम्भव हो सकता है ? इसी शंकाके समाधानमें कहते हैं कि जीवकी तरह प्रकृतिके वशमें आकर उनका जन्म नहीं होता है, किन्तु अपनी सात्त्विक मायाको निज वशमें लाकर, उस पर अधिष्ठान करते हुए उसीकी सहायतासे श्रीभगवान् प्रकट होते हैं। उनका शरीर लौकिक जीवोंकी तरह नहीं होता है, और न वे शरीरके बन्धनमें ही आते हैं, केवल संसारमें कार्य करनेके लिये शरीरका एक दिखावामात्र होता है। इसीलिये वेदमें कहा है कि 'अजायमानो बहुधा विजायते' उत्पन्न न होकर भी अनेक रूपमें प्रकट होते हैं। इसीलिये स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥

श्रीकृष्ण साक्षात् परमात्मारूप हैं, जगत्के हितके लिये मायाको आश्रय करके ये देहवान्‌की तरह दीखते हैं। यही श्रीभगवान्‌के अवतार कार्यके लिये दिव्यजन्म तथा दिव्यशरीर धारणका रहस्य है। श्रीभगवान्‌का ऐसा शरीर धारण प्रायः दो प्रकारसे होता है—एक अचानक किसी रूपमें प्रकट होना जैसा कि नृसिंहावतारका शरीर। दूसरा—क्रमोन्नत किसी शरीरके द्वारा भगवत्कलाका आंशिक या पूर्णविकाश। जैसा कि महाभारतके वनपर्वके १२ अध्यायमें श्रीकृष्णचन्द्रने कहा है—

नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम् ।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥

हे वीर अर्जुन ! तुम पूर्वजन्ममें नर थे और मैं नारायण था, अब इस जन्ममें श्रीकृष्णरूपमें मेरा जन्म और अर्जुनरूपमें तुम्हारा जन्म हुआ है। ऐसे अनेक प्रमाण भागवतादिशास्त्रोंमें भी मिलते हैं ॥ ५—६ ॥

श्रीभगवान्‌का यह दिव्य जन्म कब और किस लिये होता है सो बता रहे हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ! ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥

अन्वय—हे भारत ! (हे अर्जुन !) यदा यदा हि (जब जब ही) धर्मस्य ग्लानिः (धर्मकी हानि) अधर्मस्य अभ्युत्थानं (पापकी प्रबलता) भवति (होती है), तदा (तब) अहं (मैं) आत्मानं (अपनेको) सृजामि (मायाके द्वारा अवताररूपसे प्रकट करता हूं)। साधूनां (धार्मिक पुरुषोंकी) परित्राणाय (रक्षाके लिये) दुष्कृतां (पापीजनोंके) विनाशाय (नाशके लिये) धर्मसंस्थापनार्थाय च (तथा युगानुसार धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये) युगे युगे (प्रति युगमें) सम्भवामि (प्रकट होता हूँ)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! जब जब धर्मकी हानि तथा अधर्मकी प्रबलता होती है, तभी मैं अवताररूपसे मायाद्वारा अपनेको प्रकट करता हूँ। स्वधर्मानुगामी सत्पुरुषोंकी रक्षा, पापियोंका नाश तथा युगानुसार धर्मस्थापनाके लिये युग युगमें इस तरह मेरा जन्म होता है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें श्रीभगवान् कब अवतार लेते हैं और क्यों लेते हैं सो ही बताया गया है। श्रीभगवान् जब सर्वव्यापी हैं तो

कहींसे कहीं उनका आना जाना सम्भव नहीं है, केवल सात्त्विक मायाके आश्रयसे अपनी दिव्यकलाको आंशिक या पूर्णरूपसे किसी केन्द्र द्वारा प्रकट कर देना ही 'अवतार' है। उनकी शक्ति सर्वव्यापिनी होनेसे सभी जीवोंमें थोड़ी वहुत उनकी कला विद्यमान रहती है। तदनुसार प्रथम जीवयोनि उद्भिज्जमें उनकी एक कला, द्वितीय जीवयोनि स्वेदजमें उनकी दो कला, तृतीय जीवयोनि अण्डजमें उनकी तीन कला, चतुर्थ जीवयोनि जरायुज पशुओंमें उनकी चार कला और मनुष्योंमें उनकी पांचसे आठ तक कला प्रकट होती है। साधारण मनुष्यमें पांच कला और विभूति-योंमें आठ कला तकका विकाश देखा जाता है। किन्तु यदि किसी समय कोई प्रवल असुर या राक्षस उत्पन्न होकर पापके प्रतापसे उस समयके युगमें जितना धर्म रहना चाहिये उसमें हानि कर देवे और वह हानि आठ कला तककी विभूतियों द्वारा दूर न हो सके तो प्रकृतिके नियमा-नुसार श्रीभगवान्‌की आठसे अधिक कला जिस किसी केन्द्र द्वारा दिव्य-रूपसे प्रकट होती है उसे ही 'अवतार' कहा जाता है। नौसे पन्द्रह कला तकके अंशावतार कहलाते हैं, और षोड़श कलावतार पूर्णावतार कहलाते हैं। यथा भागवतमें—

'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'

मत्स्य, कूर्म, वराहादि और सव अंशावतार हैं, केवल श्रीकृष्ण पूर्ण-कलाके अवतार होनेसे साक्षात् श्रीभगवान् हैं। अवतार कलियुगको सत्ययुग वनानेके लिये या द्वापरको त्रेता वनानेके लिये नहीं आते हैं, क्योंकि ऐसा करना प्रकृति तथा परमात्माके नियमके विरुद्ध है। वे केवल कलियुगमें या द्वापरयुगमें जितना धर्म रहना चाहिये उसमें किसी

पापीके अत्याचार द्वारा न्यूनता आजाने पर उस न्यूनताको दूर करके युगानुसार 'धर्म संस्थापन' के लिये आते हैं। क्योंकि सत्पुरुष धर्मके रक्षक हैं और पापीजन धर्मके उच्छेदक हैं इस कारण श्रीभगवान्‌को धर्म-संस्थापन कार्यमें सज्जनोंका त्राण तथा दुर्जनोंका नाश करना होता है। यही कार्य जगत्‌कल्याणके लिये श्रीभगवान् युग युगमें अवतार लेकर करते हैं॥ ७-८॥

श्रीभगवान्‌के दिव्य जन्म कर्मका रहस्य कहकर अब उस रहस्यज्ञानको फल बता रहे हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन!॥९॥

अन्वय—हे अर्जुन! (हे अर्जुन!) यः (जो) मे एवं दिव्यं जन्म कर्म च (मेरे इस प्रकार अलौकिक जन्म तथा कर्मके विषयको) तत्त्वतः (तत्त्व भावसे) वेत्ति (जानता है) सः (वह) देहं त्यक्त्वा (शरीर त्यागके अनन्तर) पुनः जन्म न एति (फिर जन्मको नहीं पाता है) मां एति (किन्तु मुझे ही पाता है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! मेरे इस अलौकिक जन्म कर्मके तत्त्वको जान लेता है, देहत्यागके पश्चात् पुनर्जन्म न पाकर वह मुझे ही प्राप्त कर लेता है।

चन्द्रिका—परमात्मा किस प्रकारसे शरीरका बन्धन न लेकर भी शरीरधारण करते हैं और कर्त्तव्य न रहने पर भी केवल जगत्‌कल्याणके लिये निष्कामरूपसे कार्य कर सकते हैं इन अलौकिक

विषयोंका रहस्य हृदयङ्गम करनेसे योगी भी उन्हीं भावोंमें भावित होजाता है, जिससे उन्हें भी न शरीरका बन्धन स्पर्श कर सकता है और न कर्म-बन्धन ही स्पर्श कर सकता है। और इस तत्त्वज्ञानका फल स्पष्ट ही है अर्थात् ऐसे योगीको पुनः संसारमें आना नहीं पड़ता है। वे ब्रह्मके तत्त्वको जानकर ब्रह्ममें ही लीन हो जाते है ॥ ९ ॥

यह नयी बात नही है क्योंकि पहिले भी ऐसे बहुत मुक्त हो चुके हैं यथा—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

अन्वय—वीतरागभयक्रोधाः (आसक्ति, भय तथा क्रोधसे शून्य) मन्मयाः (मुझमें ही एकान्तरत) मां उपाश्रिताः (मेरी शरण लिये हुए) बहवः (अनेक योगी) ज्ञानतपसा पूताः (ज्ञान रूपी तपके द्वारा पवित्र होकर) मद्भावं आगताः (मेरे भावको प्राप्त अर्थात् मुक्त हो गये हैं)।

सरलार्थ—आसक्ति, भय तथा क्रोधसे छुटे हुए, मत्परायण और मेरी शरणको प्राप्त अनेक योगी ज्ञानरूपी तपके द्वारा पवित्र होकर मेरे ही स्वरूपमें लवलीन हो गये हैं अर्थात् मुक्तिलाभ कर चुके हैं।

चन्द्रिका—आसक्ति, भय और क्रोध बन्धनके कारण होते हैं, इसके विषयमे द्वितीयाध्यायमें पहिले ही कहा गया है। इनसे छुटकारा पाकर परमात्माकी शरण लेने पर ज्ञानका पथ बहुत ही सरल हो जाता है। ज्ञान ही परम तपस्या तथा अन्तिम तपस्या है क्योंकि जिस प्रकार

अग्निमें तपानेपर सोना विशुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान ही समस्त अविद्याकी मलिनताको दूर करके साधकको परम पवित्र बना देता है। इस प्रकार परम पवित्र ज्ञानके द्वारा अविद्या मलसे मुक्त होकर परमात्माके स्वरूपको तत्त्वतः जानते हुए योगिगण सदासे परमात्मामें लवलीन होते आये हैं, यही श्रीभगवान्‌के उपदेशका तात्पर्य है ॥ १० ॥

ज्ञानियोंकी बात ही क्या है, श्रीभगवान् सभीकी शरण हैं यथा—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ ! सर्वशः ॥ ११ ॥

अन्वय—ये (जो) यथा (जिस प्रकारसे) मां प्रपद्यन्ते (मेरी शरण लेते हैं) तान् अहं तथा एव (उन्हें मैं उसी प्रकारसे) भजामि (फल देता हूं)। हे अर्जुन !) मनुष्याः सर्वशः (मनुष्यगण सभी प्रकारसे) मम वर्त्म अनुवर्त्तन्ते (मेरे ही पथमें आ जाते हैं)।

सरलार्थ—जो मनुष्य जिस प्रकारसे मेरी शरण लेते हैं मैं उसी प्रकारसे उन्हें साधनाका फल देता हूं। हे अर्जुन ! चाहे किसी रास्तेसे हो जीवगण मेरे ही पथमें आ मिलते हैं।

चन्द्रिका—वेदान्तदर्शनमें ईश्वरके विषयमें एक सूत्र है "फलमत उपपत्तेः" अर्थात् ईश्वर सभी प्रकार कर्मोंके फलदाता हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार वर्गोंमेंसे जिसको लक्ष्य करके मनुष्य परमात्माकी उपासना करता है, परमात्मा उसीके अनुरूप साधनाका फल देते हैं। इस प्रकारसे आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी सभी अपनी अपनी वासना तथा सङ्कल्पके अनुसार परमात्माके द्वारा ही सकल फल प्राप्त होते हैं।

इतना तक कि अन्य देवताओंमें तथा विभूतियोंमें आसक्त साधक भी प्रकारान्तरसे उन्हींकी आराधना करते हैं और उन्हींके साधनमार्गके अनुवर्त्ती होते हैं क्योंकि ये सब देवता तथा दैवविभूतियां उन्हींकी शक्ति मात्र हैं। इसी विज्ञानको 'येऽप्यन्यदेवता भक्ताः' इत्यादि श्लोकके द्वारा आगे भी प्रतिपादित किया है ॥ ११ ॥

श्रीभगवान्‌के सबकी शरण होनेपर भी अन्यदेवताकी उपासना लोग क्यों करते हैं उसका कारण बता रहे हैं—

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

अन्वय—कर्मणां सिद्धिं कांक्षन्तः (सकाम कर्मोंमें सिद्धि लाभकी आकांक्षा करके) इह (संसारमें) देवताः यजन्ते (इन्द्रादि देवताओंकी भजना लोग करते हैं) हि (क्योंकि) मानुषे लोके (मनुष्य लोकमें) कर्मजा सिद्धिः (सकाम कर्मका फल) क्षिप्रं भवति (शीघ्र होता है)।

सरलार्थ—लोग सकाम कर्मोंमें सिद्धिलाभकी आकांक्षा करके इन्द्रादि देवताओंकी पूजा करते हैं, क्योंकि ऐसी पूजाके द्वारा कर्ममय मनुष्यलोकमें फलसिद्धि शीघ्र हो जाती है।

चन्द्रिका—परमात्मा प्रकृतिराज्यके बाहर और देवतागण उसीके अन्तर्गत भिन्न भिन्न विभागके सञ्चालक हैं। इस कारण जो साधक ज्ञान तथा वैराग्य द्वारा प्रकृतिराज्यसे बाहर होना चाहे ऐसे निष्काम मोक्षेच्छु साधकके लिये ही परमात्माकी उपासना प्रशस्त है। अतः सकाम साधनाओंके साथ परमात्माका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। सकाम

बुद्धिसे ईश्वरकी उपासना करनेपर फल तो मिलते हैं, किन्तु साक्षात् रूपसे नहीं मिलते है। देवताओंके साथ ही सकाम कर्मोंका साक्षात् सम्बन्ध है, क्योंकि वे प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागके अधीश्वर है। अतः जो देवता जिस विभागके अधीश्वर हैं उसके सम्बन्धके सकाम फल वे उपासकको वहुत ही शीघ्र दे सकते हैं यथा धनकी अधीश्वरी लक्ष्मी उपासनाके द्वारा तुष्ट होकर शीघ्र धन दे सकती है, विद्याकी अधीश्वरी सरस्वती उपासनाके फलरूपसे भक्तको विद्या शीघ्र दे सकती है, इत्यादि। यद्यपि इन देवताओंको भी परमात्मा समझ कर उपासना करनेसे साधक मोक्षकी ओर अग्रसर हो सकता है, किन्तु इनकी स्थिति प्रकृति राज्यके भीतर ही होनेसे वे साक्षात् रूपसे मोक्षको दे नहीं सकते, केवल परम्परारूपसे सहायता मात्र कर सकते है। यही कारण है कि सकाम साधक सकाम बुद्धिसे इन देवताओंकी ही उपासना करते है और निष्काम साधक मोक्षलाभके लिये परमात्माकी ही शरण लेते है। मनुष्यलोक कर्ममय है इस कारण कर्मफलप्रयासी जीव कर्मके सञ्चालक देवताओंकी ही प्रायः शरण लेते है और उन्हींके लिये याग यज्ञ आदिका अनुष्ठान करके इहलोकमें धनपुत्रादि लाभ और परलोकमें स्वर्गादि सुख लाभ करते हैं ॥ १२ ॥

ये सभी कर्म वर्णधर्मके अन्तर्गत हैं इसलिये प्रसङ्गोपात्त वर्ण धर्म विज्ञान कहते हुए उसके साथ अपना सम्बन्ध बता रहे हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

अन्वय—गुणकर्मविभागशः (गुण और कर्मके विभागके अनुसार) मया चातुर्व्वर्ण्यं सृष्ट (मैंने चार वर्णकी सृष्टि की है) तस्य कर्त्तारं अपि मां (चार वर्णके सृष्टिकर्त्ता होनेपर भी मुझे) अकर्त्तारं अव्ययं (अकर्त्ता तथा अपने निर्लिप्त स्वरूपसे च्युत न होनेवाले) विद्धि (जानो) ।

सरलार्थ—सत्त्व रजः तम ये तीन गुण और उसके अनुरूप कर्मविभागके अनुसार मैंने चार वर्णकी सृष्टि की है। किन्तु ऐसे सृष्टिकर्त्ता होने पर भी मुझे अकर्त्ता तथा अव्यय जानना चाहिये ।

चन्द्रिका—इस श्लोकके प्रथम चरणमें वर्णधर्मका रहस्य बताया गया है । क्योंकि चार वर्णके अनुसार ही ऊपर कथित सकाम निष्काम यागयज्ञादि लोग करते हैं । वर्णधर्मके तत्त्व वर्णनमें श्लोकोक्त 'सृष्ट' पद विशेष विचार करने योग्य है । 'मया सृष्टं', अर्थात् मैंने बनाया इससे यही तात्पर्य निकलता है कि पूर्वजन्मकृत गुणकर्मानुसार ही ब्राह्मणादि जाति बनती है । श्रीभगवान् पतञ्जलिने भी योगदर्शनमें कहा है— 'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः' अर्थात् पूर्वकर्मके अनुसार ही ब्राह्मणादि जाति, आयु तथा भोग प्राप्त होते हैं । सत्त्व, रज, तम प्रकृतिके ये तीन गुण हैं । इनमेंसे सत्त्वगुणप्रधान प्राक्तन कर्मवाले ब्राम्हणवर्णमें उत्पन्न होते हैं और उनमें शम दमादि सत्त्वगुणके ही कर्म स्वाभाविकरूपसे प्रकट होते हैं । रजः सत्त्वप्रधान प्राक्तन कर्मवाले क्षत्रियवर्णमें उत्पन्न होते हैं और उनमें युद्ध राज्यशासनादि क्षत्रियके ही कर्म स्वाभाविकरूपसे प्रकट हो जाते हैं । रजस्तमप्रधान प्राक्तनकर्मवाले वैश्य

वर्णमें उत्पन्न होते हैं और उनमे कृषिवाणिज्यादि वैश्यजातिके ही कर्म स्वाभाविकरूपसे प्रकट हो जाते हैं। इसी प्रकार तमोगुणप्रधान प्राक्तनकर्मवाले शूद्रवर्णमें उत्पन्न होते हैं और उनमें सेवादि शूद्रजातिके कर्म स्वभावतः प्रकट हो जाते हैं। यही गुणकर्मानुसार चार वर्णोंकी व्यवस्थाका रहस्य है। अतः जन्म कर्म दोनोंके साथ वर्णधर्मका स्वाभाविक सम्बन्ध है यही सिद्ध हुआ। महाभाष्यमें भी लिखा है—

तपः श्रुतञ्च योनिश्चाप्येतद् ब्राह्मण कारणम्।
तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥

तप अर्थात् कर्म, श्रुत अर्थात् ज्ञान और योनि अर्थात् जन्म ये तीन ब्राह्मणके लक्षण हैं। जिसमें कर्म तथा ज्ञान नहीं है, वह केवल जन्ममात्रसे ब्राह्मण है अर्थात् अधूरा ब्राह्मण है। ऐसा ही मनुसंहितामें भी लिखा है—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥

जिस प्रकार काठका हाथी और चमड़ेका मृग नाममात्रका कहलाता है, ऐसा ही ज्ञानकर्महीन ब्राह्मण, जातिब्राह्मण मात्र ही है। मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र होनेसे एक वर्णका मनुष्य दूसरे वर्णका कर्म कर सकता है, किन्तु गुणके साथ पूर्व जन्मका सम्बन्ध रहनेसे वह एकाएक नहीं बदलता और इसलिये जाति साधारणतः नहीं बदल सकती। केवल महर्षि विश्वामित्र आदिकी तरह असाधारण तपस्यादि द्वारा गुणका भी परिवर्त्तन होकर जाति बदल सकती है, किन्तु यह सब असाधारण कोटिकी वस्तु होनेके कारण साधारण सामाजिक जीवनमें इसका प्रयोग

या आदर्श स्थापन नहीं हो सकता है। श्लोकके दूसरे चरणमें परमात्माकी वर्णाश्रमादि व्यावहारिक कोटिके साथ निर्लिप्तता सिद्ध की गई है। यद्यपि परमात्माकी सत्ताके बिना त्रिगुणमयी प्रकृति कुछ भी नहीं कर सकती है, इसलिये प्राकृतिक त्रिगुणानुसार चार वर्णके विभागमें परमात्मा कर्त्ता कहे जा सकते हैं, किन्तु वे त्रिगुणसे सदा निर्लिप्त रहनेके कारण वर्णव्यवस्थाके कर्त्ता होनेपर भी अकर्त्ता ही हैं, और जीवात्मारूपसे सभी वर्णकी सत्तामें विविधलीला करने पर भी अपने स्वरूपसे कभी डिगते नहीं 'अव्ययं' ही बने रहते हैं। यही कारण है कि जब ज्ञानी महात्मा परमात्माका साक्षात्कार करके ब्रह्मरूप बन जाते हैं तो उनको वर्णाश्रमादि किसी बातका विधिनिषेध नहीं रहता। वे ब्रह्मरूप होकर त्रिगुणसे परे तथा विधिनिषेधसे परे हो जाते हैं ॥ १३ ॥

अब अपना निर्लिप्तस्वरूप बताते हुए कर्त्तव्यनिर्देश कर रहे हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

अन्वय—कर्माणि मां न लिम्पन्ति (कर्मसमूह मुझे नहीं लिप्त रहते) कर्मफले मे स्पृहा न (कर्मफलमें मेरी इच्छा नहीं रहती है) इति यः मां अभिजानाति (ऐसा जो मुझे जानता है) स कर्मभिः न बध्यते (वह कर्मोंके द्वारा बद्ध

नहीं होता है)। एवं ज्ञात्वा (ऐसा जानकर) पूर्वैः मुमुक्षुभिः अपि कर्म कृतं (प्राचीन समयके मुमुक्षुओंने भी कर्म किया है), तस्मात् त्वं (इसलिये तुम) पूर्वैः (प्राचीन जनोंके द्वारा) पूर्वतरं कृतं (प्राचीन समयमें किये हुए) कर्म एव कुरु कर्मको ही करो)।

सरलार्थ—मैं, कर्मोंमें लिप्त नहीं होता हूं और न कर्मफलमें ही मेरी इच्छा है, ऐसा जो मुझे जानता है, वह कर्मबन्धनमें बद्ध नहीं होता है। प्राचीन जनकादि मुमुक्षुओंने आत्माके ऐसे ही निर्लिप्त स्वरूपको जानकर कर्म किया था, अतः तुम भी इसी प्राचीन मर्यादाका अनुसरण करते हुए कर्म करो।

चन्द्रिका—परमात्माकी निर्लिप्तता तथा निस्पृहताको जान लेने पर अपने आत्माके विषयमें भी योगीको ऐसा ही ज्ञान हो जाता है, क्योंकि वे दोनों सत्ता अभिन्न है। इस प्रकारके योगीको कर्मबन्धन नहीं हो सकता है। अर्जुनके प्रति श्रीभगवान्‌का यही उपदेश है कि प्राचीन जनकादि कर्मयोगियोंके इसी आदर्शका अनुसरण करके उन्हें भी निष्काम कर्मयोगमें प्रवृत्त रहना चाहिये ॥ १४–१५ ॥

अब कर्माभावके साथ तुलना करके इसी कर्मयोग विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥
कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यञ्च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणोगतिः ॥१७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

अन्वय—किं कर्म किं अकर्म (कर्म क्या है और कर्माभाव क्या है) इति अत्र (इस विषयमें) कवयः अपि (विद्वान् गण भी) मोहिताः (भ्रममें पड़ जाते हैं) ते (तुम्हें) तत् कर्म (वह कर्म) प्रवक्ष्यामि (कहूँगा) यद् ज्ञात्वा (जिसका स्वरूप जान कर) अशुभात् (अशुभ संसारबन्धनसे) मोक्ष्यसे (तुम मुक्तिलाभ करोगे)। कर्मणः अपि (यथार्थ कर्मके विषयमें भी) बोद्धव्यं (जानना चाहिये) विकर्मणः च बोद्धव्यं (निषिद्ध कर्मके विषयमें भी जान लेना चाहिये) अकर्मणः च बोद्धव्यम् (कर्माभावके विषयमें भी जानना उचित है) कर्मणः गतिः गहना (क्योंकि कर्मका तत्त्व जानना बड़ा कठिन है)। यः कर्मणि अकर्म पश्येत् (फलाकांक्षारहित होनेके कारण निष्काम कर्ममें जो अकर्म देखता है) यः अकर्मणि च कर्म (और जो बलात् कर्म-त्यागमें कर्म देखता है) मनुष्येषु (मनुष्योंमें) सः बुद्धिमान् (वही बुद्धिमान है) सः युक्तः (वही युक्त पुरुष है) कृत्स्नकर्मकृत् (सभी कुछ करनेवाला है)।

सरलार्थ—कर्म किसको कहते हैं और कर्मका अभाव भी किसका नाम है, इस विषयमें विद्वान् जन भी भ्रममें पड़ जाते हैं, इसलिये तुम्हें मैं कर्मका यथार्थ तत्व कहूंगा जिसे जान कर तुम अशुभरूपी कर्मबन्धनसे मुक्त हो सकोगे। विहित कर्म, निषिद्धकर्म तथा कर्माभाव इन तीनोंका ही तत्व जानने योग्य

है, क्योंकि कर्मका तत्त्व बड़ा ही गहन है । निष्कामरूपसे विहित कर्मोंके करनेमें जो अकर्म समझता है और जबरदस्ती विहित कर्मोंके त्यागमें जो कर्म समझता है, वही मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी तथा सब कुछ करने वाला है ।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें 'कर्म' 'अकर्म' और 'विकर्म' इन तीनोंका तत्त्व 'फल' विचारसे बहुत ही उत्तम रीतिसे बताया गया है । फलाकांक्षारहित होकर विहित कर्मोंका अनुष्ठान ही 'कर्म' है । फलाकांक्षा न रहनेके कारण ऐसे कर्मों द्वारा कोई 'अपूर्व' 'बन्धन' या 'प्रतिक्रिया' उत्पन्न नहीं होती है, इसलिये इसे 'अकर्म' अर्थात् कर्म न करनेके तुल्य ही बताया गया है । यही 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' अर्थात् कर्ममें जो कर्माभाव देखता है इस श्लोकांशका तात्पर्य है । दूसरे पक्षमें—प्रकृतिका वेग भी है, प्रकृति कर्म करनेमें प्रेरित भी करती है, तथापि जबरदस्ती किसीने कर्मत्याग कर दिया इस 'अकर्म' को 'कर्म' कहा गया है । क्योंकि जबरदस्ती कर्म-त्यागमें प्रकृति पर धक्का अवश्य लगेगा । जिसकी प्रतिक्रिया अच्छी नहीं होगी और इस प्रकारसे विहित कर्मके त्यागमें प्रत्यवाय भी उत्पन्न होगा । अतः ऐसा 'अकर्म' भी 'कर्म' ही समझने योग्य है । यही 'अकर्मणि च कर्म यः' इस श्लोकांशका तात्पर्य है । 'विकर्म' का अर्थ विपरीत कर्म अर्थात् अविहित और शास्त्रनिषिद्ध कर्म है । इस प्रकारसे जो कर्म–अकर्म-विकर्मके तत्त्वको जानता है वही 'बुद्धिमान्' है, वही 'योगी' है और वही 'कृत्स्नकर्मकृत्' अर्थात् सब कुछ करनेवाला है । उसकी यह व्यवसायात्मिका बुद्धि कर्मतत्त्वके विवेचन द्वारा उसे परमात्माकी ओर ले जाती है इस कारण वही यथार्थमें 'बुद्धि-

मान्' है। ऐसे निष्कामकर्मी परमात्मामें युक्त होकर ही कर्म करते हैं, इस कारण वह 'युक्त' भी है। और इसी निष्कामकर्ममें ही सब कर्मोंकी पराकाष्ठा है, क्योंकि इसीसे मोक्षकी प्राप्ति है अतः वही 'कृत्स्नकर्मकृत्' कहलाने योग्य है। इस प्रकारसे श्रीभगवान्‌ने गहन कर्मतत्त्वका रहस्य बता दिया जिसका ज्ञान होनेपर जीव कर्मबन्धनसे मुक्त हो परमपदको प्राप्त कर सकता है॥ १६–१८ ॥

अब कई श्लोकोंके द्वारा इसी 'अकर्म' रूपी कर्मकी स्तुति की जाती है—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥२०॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥
यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

अन्वय—यस्य सर्वे समारम्भाः (जिसके सब कर्मके उद्योग) कामसङ्कल्पवर्जितः (फलकी इच्छासे रहित होते हैं) बुधाः (ज्ञानिगण) ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तं पण्डितं आहुः (ज्ञानकी अग्नि द्वारा जिसका कर्म जलकर अकर्म हो गया है

ऐसे पुरुषको पण्डित कहते हैं)। स. (ऐसा पुरुष) कर्मफलासङ्गं त्यक्त्वा (कर्मफलमें आसक्तिको त्याग करके) नित्यतृप्तः (कामनाशून्य होनेके कारण सदा आत्मानन्दमें मग्न) निराश्रयः (तथा वासना रूपी आश्रयसे रहित होकर) कर्मणि अभिप्रवृत्तः अपि (कर्ममें लगे रहने पर भी) किञ्चित् एव न करोति (कुछ भी नहीं करता है अर्थात् उसका कर्म अकर्म ही हो जाता है)। निराशीः (आशीः अर्थात् फलकी इच्छाको छोड़नेवाला) यतचित्तात्मा (जिसका चित्त और शरीर संयत है) त्यक्तसर्वपरिग्रहः (किसी प्रकार ग्रहणमें जिसका चित्त नहीं है अर्थात् सर्वथा मुक्तसङ्ग पुरुष) केवल शारीर कर्म कुर्वन् (चित्तमें किसी प्रकार अभिनिवेश या आसक्ति न रख कर केवल शरीर या कर्मेन्द्रिय द्वारा कर्म करते हुए) किल्बिषं न आप्नोति (पापको अर्थात् पाप पुण्यके बन्धनको नहीं पाता है)। यदृच्छालाभसन्तुष्टः (अनायास प्राप्त वस्तु द्वारा सन्तुष्ट) द्वन्द्वातीतः (सुख दुःख आदि द्वन्द्वसे मुक्त) विमत्सरः (किसीसे वैरभाव न रखनेवाला (सिद्धौ असिद्धौ च समः (सफलता विफलतामें एक भाव रखनेवाला पुरुष) कृत्वा अपि न निबध्यते (कर्म करता हुआ भी बन्धनको प्राप्त नहीं होता है)। गतसङ्गस्य, मुक्तस्य, ज्ञानावस्थितचेतसः, यज्ञाय आचरतः (आसक्ति रहित, रागद्वेषसे मुक्त, कर्माकर्म विवेकरूपी ज्ञानमें प्रतिष्ठित तथा यज्ञके लिये कर्म करनेवाले पुरुषका) समग्रं कर्म (सभी कर्म) प्रविलीयते (लय हो जाता है)।

सरलार्थ—जिसके सभी कर्म फलाकांक्षारहित होते हैं और ज्ञानकी अग्निसे जलकर जिसके कर्म अकर्म हो गये हैं ऐसे पुरुषको ज्ञानिगण परिडत कहते हैं। कर्मफलके प्रति आसक्तिशून्य वासनानाशके कारण आत्मामें ही सदा तृप्त, फल सिद्धिरूपी आश्रयको त्यागनेवाला ऐसा पुरुष कर्म करते रहने पर भी कुछ नहीं करता। फलकामनाहीन, संयतमन,संयतशरीर, मुक्तसङ्ग पुरुष कर्मेन्द्रिय द्वारा कर्म करने पर भी पापपुण्यके बन्धनको नहीं पाता है। अनायासप्राप्त वस्तुओंसे सन्तुष्ट, सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंसे मुक्त, किसीके प्रति वैरभाव न रखनेवाला तथा सिद्ध असिद्धिमें समानभाव रखनेवाला पुरुषकर्म करके भी कर्मबन्धनमें बद्ध नहीं होता है। ऐसे आसक्ति रहित, रागद्वेषमुक्त, ज्ञानमें स्थित तथा यज्ञभावसे कर्म करने वाले पुरुषके सभी कर्म यज्ञदेवता ब्रह्ममें ही विलीन हो जाते हैं।

चन्द्रिका—पूर्व श्लोकोंमे यह रहस्य भली भांति प्रकट हो चुका है कि निष्कामकर्म ही अकर्म है, बलात् कर्मत्याग अकर्म नहीं है। अब इन श्लोकोंमें ऐसे निष्काम कर्मयोगी कर्मयोगके द्वारा आध्यात्मिक उन्नति करते करते राग द्वेष, पाप पुण्य आदिसे मुक्त होकर ब्रह्मभावना द्वारा अपने समस्त कर्मोंको कैसे ब्रह्ममें विलीन कर सकते हैं सो ही बताया गया है। प्रथम श्लोकमें ऐसे पुरुषके कर्मको ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध कहा गया है। ज्ञान अर्थात् विवेककी अग्नि कर्मकी वासनाको जलाकर निष्काम-कर्मको अकर्म बना देती है, इसीको ज्ञानाग्निदग्ध कर्म कहा गया है। इसमें वासना ही जलती है, कर्म नहीं। ऐसे पुरुष 'पण्डित' कहलाते हैं,

क्योंकि उनकी 'पण्डा' अर्थात् वेदोज्वला बुद्धिके विकाशका यही सर्वोत्तम लक्षण है। द्वितीय श्लोकमें ऐसे पुरुषके लिये कहा गया है कि वे सदा-तृप्त तथा निराश्रयी होते हैं। वासनाका हाहाकार ही चित्तको अशान्त करके आत्मतृप्तिमें अतृप्तिको ला देता है, इसलिये जिनकी वासना छूट गई है, उनके नित्यतृप्ति रहनेमें क्या सन्देह है? जो फलाकांक्षासे काम नहीं करते, फलसिद्ध या फलकामना उनकी कर्मप्रवृत्तिमें आश्रयरूप भी नहीं हो सकती। अतः वे 'निराश्रय' ही रहते हैं। ऐसे पुरुष सब कुछ करते हुए भी वासनाशून्यताके कारण कुछ भी नहीं करते। तृतीय श्लोकमें ऐसे पुरुषको 'यतचित्तात्मा' और 'त्यक्तसर्वपरिग्रहः' कहा गया है। उनका चित्त अर्थात् अन्तःकरण और आत्मा अर्थात् शरीर दोनों ही संयत रहते हैं। वासनाके वेगसे ही चित्त तथा शरीरमें चाञ्चल्य आता है, इसलिये जहां वासना ही नहीं है, वहां चित्त तथा शरीर स्वयं ही संयत हो जायगा इसमें सन्देह नहीं। जिन्हें वासना ही नहीं है, वे 'परिग्रह' क्या करेंगे? वे देते ही रहेंगे लेंगे कुछ भी नहीं। यही 'त्यक्त-सर्वपरिग्रह' शब्दका तात्पर्य है। ऐसे पुरुष कर्मेन्द्रिय द्वारा कर्म करने पर भी पाप या पाप पुण्यके भागी नहीं होते हैं। क्योंकि फलकामना न रहनेके कारण इनके किये हुए कर्मोंकी इनपर कोई भी प्रतिक्रिया नहीं हो सकती है। यही 'कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' पदका तात्पर्य है। चतुर्थ श्लोकमें ऐसे कर्मयोगीकी और भी उत्तमा स्थिति बताई गई है। वासना न रहनेके कारण वे अनायासप्राप्त वस्तुमें ही सन्तुष्ट रहते हैं, वे रागद्वेषके झगड़ेसे मुक्त हो जाते हैं क्योंकि वासना ही रागद्वेषकी अग्निको उत्पन्न करती है, रागद्वेषहीन पुरुषके साथ किसीका वैरभाव नहीं हो सकता है, वे सभीके मित्र होते हैं। ऐसे सिद्धि असिद्धिमें एक भाव-

युक्त पुरुषको कर्मका बन्धन नहीं लग सकता है। 'इनके सब कर्म जाते कहां हैं' यही पञ्चम श्लोकमें बताया गया है। इनके सब कर्म 'यज्ञ' है। तृतीयाध्यायके यज्ञ प्रकरणमें पहिले ही कहा गया है कि आत्माकी ओर साक्षात् या परम्परारूपसे ले जाने वाले सभी कर्म 'यज्ञ' कहाते हैं। निष्काम कर्मयोगी कर्म अकर्मके विवेक रूपी ज्ञानमे अवस्थित होकर अपने समस्त कर्मको तथा उसके फलाफलको ब्रह्ममे अर्पण करते करते ब्रह्मभावमें ही भावित होजाते है। उस समय उनका अर्पण, अर्पणकर्त्ताके साथ ब्रह्ममें ही विलीन हो जाता है और उनका यज्ञरूपी कर्म भी ब्रह्ममें ही विलीन हो जाता है। यही पञ्चम श्लोकका तात्पर्य है और निष्काम कर्मयोगीकी अत्युत्तमा अलौकिक स्थिति है ॥ १९-२३॥

इस स्थितिमें क्या अपूर्वता है सो ही बता रहे हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।। २४ ।।

अन्वय—अर्पणं ब्रह्म (इस महान् यज्ञमें अर्पण अर्थात् हवनकी सभी क्रिया ब्रह्मरूप है) हविः ब्रह्म (हवनका द्रव्य भी ब्रह्मरूप है) ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् (इसमें अग्नि भी ब्रह्मरूप है जिसमें ब्रह्मरूपी होताके द्वारा हवन होता है) ब्रह्मकर्मसमाधिना तेन (इसप्रकारसे ब्रह्मरूपी कर्ममें समाधि अर्थात् चित्तका लय जिसने कर लिया है उसके द्वारा) गन्तव्यं (पाने योग्य वस्तु) ब्रह्म एव (ब्रह्म ही है)।

सरलार्थ—इस महान् यज्ञमें अर्पण अर्थात् हवनकी क्रिया ब्रह्मरूप है, हवनका द्रव्य ब्रह्मरूप है, हवनकी अग्नि ब्रह्मरूप

है और हवनकर्त्ता ब्रह्मरूप है। इस प्रकार ब्रह्मरूपी कर्ममें चित्तको लय करके कर्त्ताको ब्रह्म ही प्राप्त होता है।

चन्द्रिका—निष्काम भगवदर्पण बुद्धिसे कर्मयोगका अनुष्ठान करते करते अहन्ता ममताका जितना जितना नाश होता जाता है, उतना ही द्वैतभावके विलयमें सर्वत्र ब्रह्मका ही अनुभव होने लगता है, जिसका अन्तिम परिणाम इस श्लोकके द्वारा व्यक्त हुआ है। ब्रह्मभावमें भावित कर्मयोगीकी दृष्टिमें सभी ब्रह्म हो जाता है। उनके लिये हवनक्रिया भी ब्रह्म है, हवनद्रव्य भी ब्रह्म है, हवनकी अग्नि भी ब्रह्म है, हवनकर्त्ता भी ब्रह्म है और हवनकर्म भी ब्रह्म है। अतः जब सभी ब्रह्ममय है तो उन्हें इस ब्रह्मरूपी महान् यज्ञका महाप्रसाद ब्रह्मही मिलता है, यही इस श्लोकका तात्पर्य है॥ २४॥

अब इस अन्तिम यज्ञके आनुषङ्गिक तथा सहायक अन्यान्य यज्ञोंका वर्णन करते हैं—

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्य्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ २५॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ २६॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ २७॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥ २८॥

अन्वय—अपरे योगिनः (अन्यान्य कर्मयोगिगण) दैवं एव यज्ञं (इन्द्रादि देवताओंके उद्देश्यसे दैवयज्ञको) पर्य्युपासते (श्रद्धाके साथ करते हैं) अपरे (दूसरे ज्ञानयोगिगण) ब्रह्माग्नौ (ब्रह्मरूपी अग्निमें) यज्ञेन एव (यज्ञके द्वारा ही) यज्ञं उपजुह्वति (यज्ञका हवन कर देते हैं अर्थात् ज्ञानयज्ञमें कर्मयज्ञकी आहुति या लय कर देते हैं)। अन्ये (अन्य योगिगण) संयमाग्निषु (इन्द्रिय संयमरूपी अग्निमें) श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि जुह्वति (कान आंख आदि इन्द्रियोंकी आहुति देते हैं अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंसे रोककर संयमका अभ्यास करते हैं) अन्ये (अन्य योगिगण) शब्दादीन् विषयान् (शब्दस्पर्शरूप आदि विषयोंको) इन्द्रियाग्निषु (इन्द्रियरूपी अग्निमें) जुह्वति (हवन कर देते हैं अर्थात् इन्द्रियोंको शब्दादि विषयोंके दास होनेसे रोकते हैं)। अपरे (ध्याननिष्ठ दूसरे योगिगण) ज्ञानदीपिते (ज्ञानके द्वारा अति उज्ज्वल) आत्मसंयमयोगाग्नौ (आत्मामें संयमरूपी योगाग्निमें) सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि च (समस्त कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रियोंके कर्मोंको और उनके सञ्चालक सूक्ष्म प्राणशक्तिके कर्मोंको) जुह्वति (हवन कर देते हैं)। संशितव्रताः यतयः (कठिन व्रतधारी यतिगण इस प्रकारसे) द्रव्ययज्ञाः (अन्नादि द्रव्यद्वारा यज्ञकरनेवाले) तपोयज्ञाः (तपस्यारूपी यज्ञ करनेवाले) तथा अपरे (और भी दूसरे) योगयज्ञाः (योगरूपी यज्ञ करनेवाले) स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः च

(तथा वेदपाठरूपी यज्ञ करनेवाले और कोई कोई वेदार्थ-ज्ञानरूपी यज्ञ करनेवाले होते हैं)।

सरलार्थ—कोई कोई योगी श्रद्धाके साथ दैवयज्ञका अनुष्ठान करते हैं, दूसरे कोई ब्रह्मरूपी अग्निमें यज्ञद्वारा यज्ञ-का ही हवन अर्थात् लय कर देते हैं। तपोयज्ञवाले कुछ योगी संयमरूपी अग्निमें चक्षुकर्ण आदि इन्द्रियोंकी आहुति कर देते हैं दूसरे कोई इन्द्रियरूपी अग्निमें शब्द आदि विष-योंकी आहुति कर देते हैं और तीसरे कोई योगयज्ञवाले ज्ञान-के तेजसे दीप्तिमान् आत्मसंयमरूपी योगाग्निमें कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय तथा सूक्ष्मप्राणके सभी कर्मोंकी आहुति दे देते हैं। इस प्रकारसे द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ तथा ज्ञानयज्ञके अनुष्ठाता कठोरव्रतधारी यतिगण होते हैं।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें भिन्न भिन्न प्रकारके गौण यज्ञोंका वर्णन किया गया है। ये सब यदि निष्कामभावसे तथा ईश्वरार्पण बुद्धिसे किये जांय तो इनके द्वारा ऊपर कथित 'ब्रह्मार्पण' रूपी बड़े यज्ञमें वर्णित महान् लक्ष्यकी सिद्धिमें सहायता अवश्य ही हो सकती है। इनमें द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ आदि अनेक प्रकारके यज्ञ बताये गये हैं। कोई कोई अन्नदान आदि रूपसे द्रव्ययज्ञ करते हैं, कोई कोई इन्द्रादि देवताओंकी प्रसन्नताके अर्थ दैवयज्ञ करते हैं और कोई कोई ब्रह्माग्निमें यज्ञमात्रकी आहुति करके ज्ञानयज्ञमें समस्त कर्मयज्ञका लय कर देते हैं। इसी प्रकार तपोयज्ञरूपसे विषयोंकी आहुति इन्द्रियोंमें और इन्द्रियोंकी आहुति संयमाग्निमें की जाती है। ऐसे ही योगयज्ञ

करनेवाले कोई कोई सूक्ष्म प्राण तथा इन्द्रियोंके व्यापारको आत्मसंयम-रूपी योगाग्निमें लय कर देते हैं। संयमके लक्षणके विषयमें महर्षि पतञ्जलिने कहा है कि 'त्रयमेकत्र संयमः' आत्मामें धारणा, ध्यान और समाधि इन तीन योगक्रियाओंको एक करनेका नाम संयम है। योगयज्ञ-परायण योगी ऐसा ही करके कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय तथा प्राणकी समस्त क्रियाओंको इसी योगाग्निमें हवन कर देते हैं। अर्थात् इन्द्रिय तथा प्राणके चाञ्चल्यको नष्ट करके आत्मामें समाधिलाभ करते हैं। यह अग्नि ज्ञानके द्वारा 'दीपित' अर्थात् अति उज्ज्वल होनेके कारण समस्त इन्द्रिय-वृत्ति तथा प्राणवृत्तियोंको जला देती है। यहां पर प्राणका अर्थ प्राणवायु नहीं है, किन्तु जिस सूक्ष्म प्राणशक्तिकी सहायतासे स्थूल प्राणादि पञ्च-वायु तथा इन्द्रियां अपने अपने कर्मोंको कर सकती हैं उसी प्राणशक्तिका नाम प्राण है। इसी प्रकारसे महान् अन्तिम यज्ञके सहायकरूपसे अनेक यज्ञ हुआ करते हैं॥ २५–२८॥

इन यज्ञोंके और भी भेद तथा अनुष्ठान फल बता रहे हैं—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति॥ २९॥
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षयितकल्मषाः।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्॥ ३०॥
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम!॥३१॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणोमुखे ।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

अन्वय—अपाने प्राणं जुह्वति (अपानवायुमें प्राण वायुका हवन करते हैं अर्थात् योगयज्ञ करनेवाले कोई कोई पूरक प्राणायामका अभ्यास करते हैं) तथा अपरे (ऐसे ही अन्य योगी) प्राणे अपानं (प्राणवायुमें अपानकी आहुति देते हैं अर्थात् रेचक प्राणायामका अभ्यास करते हैं) प्राणापानगती रुद्ध्वा (कोई कोई योगी प्राण और अपानके ऊपर नीचेकी गतिको रोक कर) प्राणायामपरायणाः (कुम्भक प्राणायामका अभ्यास करते हैं), अपरे (अन्य कोई योगी) नियताहाराः (मिताहार या आहारका संयम करके) प्राणेषु प्राणान् जुह्वति (प्राणोंमें प्राणोंकी आहुति करते हैं अर्थात् पञ्चप्राणोंमेंसे जिन जिनको वशीभूत कर लिया उन उनमें दूसरे दूसरेकी आहुति दे देते हैं)। एते सर्वे अपि यज्ञविदः (ये सभी यज्ञोंके जाननेवाले) यज्ञक्षपितकल्मषाः (यज्ञ द्वारा निष्पाप होकर) यज्ञशिष्टामृतभुजः (यज्ञके प्रसादरूप अमृतका सेवन करते हुए) सनातनं ब्रह्म यान्ति (शाश्वत ब्रह्मको प्राप्त करते हैं)। हे कुरुसत्तम! (हे अर्जुन!) अयज्ञस्य (यज्ञहीन पुरुषका) अयं लोकः न अस्ति (इहलोक ही नहीं है) कुतः अन्यः (फिर परलोक कैसे होगा)? एवं बहुविधाः यज्ञाः (इस प्रकारसे अनेक यज्ञ) ब्रह्मणः मुखे (वेदके द्वारा) विततः (विस्तीर्ण अर्थात् विहित हुए हैं) तान् सर्वान् कर्मजान्

विद्धि (उन सबकी उत्पत्ति कर्मसे ही हुई है ऐसा जानो) एवं ज्ञात्वा (ऐसा जानकर) विमोक्ष्यसे (कर्मबन्धनसे छूट जाओगे)।

सरलार्थ—कोई कोई योगी पूरक प्राणायाम द्वारा अपानमें प्राणकी आहुति देते हैं, और कोई रेचक प्राणायाम द्वारा प्राणमें अपानकी आहुति देते हैं। तीसरे कोई प्राण अपान दोनोंकी गतिको रोक कर कुम्भक प्राणायाम करते हैं। अन्य कोई योगी आहारका संयम करके वशीभूत प्राणमें चञ्चल प्राणकी आहुति देते हैं। ये सभी यज्ञरहस्यके ज्ञातागण यज्ञके द्वारा ही निष्पाप होकर यज्ञके प्रसादरूप अमृतका सेवन करते हुए शाश्वत ब्रह्मको लाभ करते हैं। यज्ञहीन पुरुषका इहलोक ही नहीं है तो परलोक कैसे होगा? ऐसे ही अनेकविध यज्ञ वेदमुखमें विवृत हुए हैं, इन सबकी उत्पत्ति कर्ममें है और ये ही निष्कामभावसे अनुष्ठित होनेपर अपवर्गकी सहायता कर सकते हैं ऐसा जो जानता है वह कर्मबन्धनसे मुक्तिलाभ करता है।

चन्द्रिका—पूर्व श्लोकोंमें द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ तथा योगयज्ञके विषयमें बहुत कुछ कहकर इन श्लोकोंमें प्रथमतः प्राणायामरूपी योगयज्ञका वर्णन किया गया है और पश्चात् इन यज्ञोंके निष्काम अनुष्ठानका अन्तिम फल बताया गया है। प्राणायाममें, पूरक, रेचक, कुम्भक ये तीन अभ्यास होते हैं, प्राणवायुको श्वास द्वारा भीतर लेकर अपानके

साथ मिलानेका नाम पूरक है, उसको बाहर निकाल देनेका नाम रेचक है, जिस समय अपानकी गति प्राणकी ओर होती है और प्राण अपान दोनोंकी गतिको रोककर श्वास बन्द रखनेका नाम कुम्भक है । ये ही तीन यज्ञरूपसे यहां पर बताये गये हैं । इसके अनन्तर सभी वायुओंको नियमित करते हुए पञ्चप्राणोंमेंसे जो वशीभूत हो जाय उसमें चञ्चल अन्य वायुको लय करनेकी भी विधि योगयज्ञमें होती है । यही 'प्राणान् प्राणेषु जुह्वति' इस वाक्यके द्वारा बताया गया है । इस योगके लिये 'नियताहार' अर्थात् मिताहार होनेकी विशेष आवश्यकता होती है जिसका लक्षण शास्त्रमें यही बताया गया है कि—

द्वौ भागौ पूरयेदन्नैर्जलेनैकं प्रपूरयेत् ।
मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत् ॥

अर्थात् उदरके दो भाग अन्नसे और एक भाग जलसे पूर्ण करके चतुर्थ भाग वायुसंचारके लिये खाली छोड़ देना इसीका नाम मिताहार है । इस प्रकारसे योगयज्ञ द्वारा समस्त प्राण वशीभूत होते हैं और प्राणके वशीभूत होनेपर मन तथा मनोवृत्ति अनायास ही वशीभूत हो जाती हैं जिससे योगी द्रुतवेगसे ब्रह्मकी ओर अग्रसर हो सकता है जैसा कि परवर्त्ती श्लोकमें बताया गया है । इन्द्रियोंकी आहुति, विषयोंकी आहुति, प्राणोंकी आहुति इन सभीके द्वारा पापनाश तथा आध्यात्मिक उन्नति साधन होता है, जिससे योगी अचिरकालमें ही शाश्वत ब्रह्मधामको प्राप्त कर सकता है । उनको यज्ञावशिष्ट प्रसादरूपसे यही अमृत मिलता है, क्योंकि इन सब तपोयज्ञ, योगयज्ञ आदिमें स्थूल प्रसाद तो असम्भव है, यही सूक्ष्म अमृत प्रसाद इन यज्ञोंसे प्राप्त होकर चिर अमरताके कारण ये सब

यज्ञ बन जाते हैं । अतः जो इन यज्ञोंसे हीन है उसके इन्द्रियादि वशीभूत तथा हृदय उदार न होनेके कारण इहलोकमें स्वार्थी तथा विषयोंके दास बनकर वे दुःख पाते हैं और परलोकमें भी उनकी दुर्गति ही होती है । ये सभी यज्ञ वेदमें होते हैं और इनके सकाम अनुष्ठान द्वारा इहलोक तथा परलोकमें थोड़ा बहुत सुखलाभ और निष्काम अनुष्ठान द्वारा मुक्तिलाभमें सहायता मिलती है । इस रहस्यको जानकर जो निष्काम भावसे इन यज्ञोंका अनुष्ठान करता है वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २९-३२ ॥

अब इन सब यज्ञोंमेंसे कौन यज्ञ सर्वश्रेष्ठ है सो ही बता रहे हैं—

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाद् ज्ञानयज्ञः परन्तप ! ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

अन्वय—हे परन्तप ! (हे अर्जुन !) द्रव्यमयाद् यज्ञात् (अन्नादि द्रव्योंसे जिसका अनुष्ठान हो ऐसे यज्ञसे) ज्ञानयज्ञः श्रेयान् (साक्षात् मुक्तिप्रद होनेके कारण ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठतर है) । हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) सर्वं (समस्त) अखिलं (अवशेषहीन) कर्म (कर्म) ज्ञाने परिसमाप्यते (ज्ञानमें समाप्तिको प्राप्त होजाता है) ।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! द्रव्यरूपी साधनके द्वारा अनुष्ठित यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठतर है, क्योंकि समस्त कर्म निरवशेषरूपसे ज्ञानहीमें जाकर लय हो जाते हैं ।

चन्द्रिका—पहिले ही कहा गया है कि द्रव्यमय यज्ञोंको सकामभावसे करने पर इहलोक तथा परलोकमें थोड़ा बहुत सुख तो होता है

किन्तु परिणाममें बन्धन ही इनके द्वारा होता है। और निष्कामरूपसे इनका अनुष्ठान मोक्षमें सहायक होनेपर भी साक्षात्‌रूपसे सहायक न होकर परम्परारूपसे ही सहायक हो सकता है। अतः साक्षात्‌रूपसे मोक्षप्रद ज्ञानयज्ञ ही सबसे श्रेष्ठ हुआ। इसी ज्ञानमें सब कर्म लय हो जाते हैं। क्योंकि ज्ञानी पुरुषका संसारमें कोई कर्त्तव्य नहीं रह जाता है जैसा कि 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' इत्यादि श्लोककी चन्द्रिकामें कहा गया है। वे केवल प्रारब्धवश अथवा विराटकेन्द्र द्वारा चालित होकर अनायास ही कर्म करते रहते है, किसी कर्त्तव्यके बन्धनमें बद्ध होकर नहीं। अतः ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठतम है यह प्रमाणित हुआ ॥ ३३ ॥

यह ज्ञान कैसे प्राप्त होता है सो ही बता रहे हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

अन्वय—प्रणिपातेन (तत्त्वज्ञानी गुरुको प्रणाम करके) परिप्रश्नेन (उनके प्रति ब्रह्मविषयक प्रश्न करके) सेवया(उनकी सेवा करके) तद् (ज्ञानको) विद्धि (प्राप्त करो) तत्त्वदर्शिनः ज्ञानिनः (प्रणिपात आदि द्वारा प्रसन्न होकर आत्मानुभवी ज्ञानिगण) ते (तुम्हें) ज्ञानं उपदेक्ष्यन्ति (ज्ञानका उपदेश करेंगे)।

सरलार्थ—प्रणिपात, जिज्ञासा और सेवा द्वारा ज्ञानको प्राप्त करो। आत्माके तत्त्वको जाननेवाले अनुभवी ज्ञानिगण तुम्हें ज्ञानका उपदेश करेंगे।

चन्द्रिका—तत्त्वदर्शी ज्ञानी ही ब्रह्मज्ञानका उपदेश कर सकते

हैं, केवल पुस्तक पढ़कर जिसने ज्ञानकी बातें सीखी हैं वह नहीं कर सकता है। इसलिये श्लोकमें 'ज्ञानी' शब्दके साथ 'तत्त्वदर्शी' शब्दका प्रयोग हुआ है। ऐसे अनुभवी ज्ञानी गुरुसे ज्ञान प्राप्त करनेके तीन उपाय हैं यथा—प्रणिपात, जिज्ञासा और सेवा। अहंकार जीवका प्रधान बन्धन है, इसके नाशके विना ज्ञानका उदय नहीं हो सकता है। प्रणिपातके द्वारा दीनता, शीलता, नम्रता आदि कोमल वृत्तिके उदय होनेपर अहंकार घट जाता है, जिससे मुमुक्षुका अन्तःकरण तत्त्वज्ञानका आधार बनने योग्य हो जाता है। यही ज्ञानप्राप्तिके साधनोंमें 'प्रणिपात' की आवश्यकता है। विना जिज्ञासाके अधिकारानुसार तत्त्वज्ञान खिलता नहीं है। क्योंकि शिष्य जब अपनी आध्यात्मिक स्थितिके अनुसार प्रश्न करेगा तभी उसके अधिकारके अनुसार उपदेश देनेमें गुरु समर्थ हो सकेंगे। इसी कारण मनुसंहितामें लिखा है कि 'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयाद् न चान्यायेन पृच्छतः' विना पूछे नहीं बोलना चाहिये और अन्यायरूपसे जल्प वितण्डा बुद्धिसे पूछनेपर भी नहीं बोलना चाहिये। यही ज्ञानप्राप्तिके साधनोंमें 'परिप्रश्न' की आवश्यकता है। गुरुसेवा द्वारा गुरुके साथ आत्मीयता बढ़ती है। जिससे गुरुके आत्माकी झलक शिष्यके आत्मापर स्वतः ही आ जाती है। यही कारण है कि केवल सेवामात्रसे ही ज्ञानलाभ होनेके दृष्टान्त आर्यशास्त्रमें मिलते हैं। इस प्रकार तीन साधनोंके द्वारा ज्ञान लाभ करना चाहिये ॥ ३४ ॥

अब ज्ञानलाभके फल बता रहे हैं:—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषाणि द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

अपि चेदसि पापिभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥३६॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ! ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥३७॥

अन्वय—हे पाण्डव ! (हे अर्जुन !) यद् ज्ञात्वा (जिस ज्ञानको पाकर) पुनः एवं मोहं न यास्यसि (पुनः इस प्रकार-के मोहको नहीं प्राप्त करोगे), येन (जिस ज्ञानसे) अशेषाणि भूतानि (समस्त प्राणियोंको) आत्मनि (अपनेमें) अथो (और तदनन्तर) मयि (व्यापक परमात्मामें) द्रक्ष्यसि (देखोगे)। सर्वेभ्यः अपि पापिभ्यः (सकल पापियोंसे भी) चेत् (यदि) पापकृत्तमः असि (तुम अधिक पापी हो), सर्वं वृजिनं (तथापि समस्त पापसमुद्रको) ज्ञानप्लवेन एव (ज्ञानरूपी नावके द्वारा ही) सन्तरिष्यसि (तुम तर जाओगे)। हे अर्जुन ! (हे अर्जुन !) यथा (जिस प्रकार) समिद्धः अग्निः (प्रज्वलित अग्नि) एधांसि (काष्ठोंको) भस्मसात् कुरुते (भस्म कर देती है) तथा (उसी प्रकार) ज्ञानाग्निः (ज्ञानरूपी अग्नि) सर्वकर्म्माणि (समस्त कर्मोंको) भस्मसात् कुरुते (जला देती है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! सद्गुरुके द्वारा ज्ञानकी प्राप्ति होनेसे, तुम्हारा मोह कट जायेगा और तब तुम सकल प्राणियोंको अपने आत्मामें तथा व्यापक परमात्मामें अभेद-

बुद्धिसे देख सकोगे। सकल पापियोंसे अधिकतम पापी होनेपर भी, ज्ञानकी ऐसी महिमा है, कि तुम ज्ञाननौकासे पापसमुद्रको तर जाओगे। हे अर्जुन ! प्रज्वलित अग्नि जिस प्रकार काष्ठको भस्म कर देती है, ज्ञानरूपी अग्नि भी उसी प्रकार कर्मोंको जला देती है ।

चन्द्रिका—ज्ञानप्राप्तिके फलवर्णनमें अर्जुनको निमित्त करके ज्ञानकी अलौकिक महिमा बताई गई है। तत्त्वज्ञानके प्राप्त होनेपर 'मैं मेरा' यह द्वैत भाव और तज्जन्य मोह नष्ट हो जाता है। उस समय ज्ञानी अद्वैत भावका अनुभव करता हुआ प्रथमतः अपने ही आत्मामें सकल भूतोंको और उसके बाद व्यापक परमात्मामें समस्त विश्वको पत्थरमें खोदी हुई मूर्तिकी तरह देखने लगता है। ज्ञानसंस्कारके प्रबल होनेपर समस्त अज्ञान तथा अविद्याके संस्कार दब जाते हैं और ज्ञानी उसी ज्ञानसंस्कारके प्रतापसे ब्रह्मको अनुभव कर मुक्त हो जाता है। इसीलिये कहा है कि महापापीसे महापापी क्यों न हो ज्ञानतरणि द्वारा पापसमुद्रको तर सकता है। और केवल पाप ही क्यों, ज्ञानके द्वारा त्रिगुणसे परे पहुंचनेपर पाप पुण्य दोनों संस्कारोंसे ज्ञानी मुक्त हो जाता है। जीवके अन्तःकरणमें प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण ये तीन कर्मसंस्कार होते हैं। जन्मजन्मान्तरके सञ्चित कर्मको 'सञ्चित' कहते हैं, प्रत्येक जन्ममें जो नवीन कर्म किया जाय उसे 'क्रियमाण' कहते हैं, और पूर्वजन्मके जिन कर्मोंके द्वारा स्थूल शरीर मिल जाता है उन्हें 'प्रारब्ध' कर्म कहते हैं, ज्ञानकी अग्निसे प्रारब्धके सिवाय और सब सञ्चित, क्रियमाण कर्म जल जाते हैं। ज्ञानके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति होनेपर नवीन

कर्म बन ही नहीं सकते इसलिये क्रियमाण कर्म तो यों नष्ट हुए। और ज्ञानके द्वारा आत्माका अभिमान सम्बन्ध शरीरोंसे पृथक् हो जानेपर सूक्ष्मशरीरमें रहनेवाले सञ्चित कर्म मुक्तात्माको स्पर्श नहीं कर सकते, इसलिये ये भी कर्म यों जल गये। केवल प्रारब्ध कर्म जिसके द्वारा शरीर बन चुका है वह भोग द्वारा ही निवृत्त हो सकता है। इसलिये श्लोकमें जो 'सर्वकर्माणि' शब्दका प्रयोग हुआ है उससे 'प्रारब्धको छोड़कर और सब कर्म' यही अर्थ लेना चाहिये। 'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः' प्रारब्धकर्मोंका भोगद्वारा क्षय होता है ऐसा शास्त्रमें भी प्रमाण मिलता है। यही सब ज्ञानकी महिमा है॥ ३५–३७॥

यह ज्ञान कब और किसको मिलता है या नहीं मिलता है सो ही बता रहे हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विंदति॥३८॥
श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥३९॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥४०॥

अन्वय—ज्ञानेन सदृशं (ज्ञानके तुल्य) पवित्रं (पवित्र वस्तु) इह न हि विद्यते (संसारमें और कुछ भी नहीं है), तत् (इस ज्ञानको) कालेन योगसंसिद्धः (बहुत कालमें कर्मयोगमें सिद्ध लाभ करके मुमुक्षु), स्वयं आत्मनि विन्दति

(अपने आत्मामें लाभ करता है)। श्रद्धावान् (गुरुवाक्य तथा शास्त्रवाक्यमें श्रद्धालु) तत्परः (परमात्माकी उपासनामें रत) संयतेन्द्रियः (जितेन्द्रिय पुरुष) ज्ञानं लभते (ज्ञानको प्राप्त करता है), ज्ञानं लब्ध्वा (ज्ञानको पाकर) अचिरेण (शीघ्रही) परां शान्तिं (मोक्षरूपी आत्यन्तिक शान्तिको) अधिगच्छति (लाभ करता है)। अज्ञः च अश्रद्दधानः च (ज्ञानहीन और श्रद्धाहीन) संशयात्मा (तथा सन्दिग्ध पुरुष) विनश्यति (नाशको प्राप्त होता है अर्थात् कल्याण मार्गसे भ्रष्ट हो जाता है), संशयात्मनः (सन्दिग्ध पुरुषका) अयं लोकः न अस्ति (इहलोकमें सुख नहीं है) न परः (परलोकमें भी कल्याण नहीं है) न सुखम् (और सुखलाभ भी भाग्यमें नहीं है)।

सरलार्थ—ज्ञानके तुल्य पवित्र वस्तु संसारमें और कुछ भी नहीं है, बहुकालके बाद कर्मयोगमें सिद्ध होकर तभी योगी अपने आत्मामें इस ज्ञानका अनुभव कर सकता है। श्रद्धावान् जितेन्द्रिय, उपासनारत पुरुष ज्ञानको पा सकता है। ज्ञानलाभ होनेसे शीघ्र ही साधकको आत्यन्तिकी शान्ति मिलती है। श्रद्धाहीन, ज्ञानहीन तथा संशयी पुरुष कल्याणमार्गसे गिर जाता है, संशयीके लिये इहलोक भी नहीं, परलोक भी नहीं और सुख भी नहीं है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें कब और किसको ज्ञान प्राप्त होता है

उसीका वर्णन किया गया है । ज्ञान बड़ी पवित्र वस्तु है क्योंकि इसीके द्वारा अविद्याकी अपवित्रतासे मुक्त होकर जीव परमपवित्र ब्रह्मको प्राप्त कर सकता है । ब्रह्ममें युक्त हो कर निष्कामभावसे कर्म करते करते बहु कालके अनन्तर आत्मामें ज्ञानका अनुभव होता है । 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' अनेक जन्म साधना करते करते सिद्धिलाभ होने पर तब परमगति मिलती है ऐसा आगे भी श्रीभगवान्‌ने कहा है । दूसरे श्लोकमें कर्मयोगकी तरह ज्ञान प्राप्तिके लिये उपासनायोगकी भी आवश्यकता बताई गई है । जो 'तत्पर' अर्थात् परमात्माकी उपासनामें रत हो, श्रद्धालु और जितेन्द्रिय हो उसीको ज्ञानकी प्राप्ति होती है । गुरुवाक्य तथा शास्त्रवाक्यमें विश्वासका नाम श्रद्धा है । विना विश्वासके मनुष्य साधनाके पथमें अग्रसर नहीं हो सकता है । शिवसंहितामें लिखा है— 'फलिष्यतीति विश्वासः सिद्धेः प्रथमलक्षणम्' मेरी साधना सफल होगी यह विश्वास सिद्धिलाभका पहिला लक्षण है । इसी कारण तृतीय श्लोकमें कहा गया है कि विश्वासहीन संशयचित्त पुरुष कदापि कल्याणपथका पथिक नहीं बन सकता है । जो हर बातमें सन्देह करता है, किसी बातपर विश्वास नहीं करता है उसको न इहलोकमें ही सुख मिलता है और न परलोकमें ही उन्नति तथा आत्यन्तिक शान्ति मिलती है, यही श्रीभगवान्‌का उपदेश है ॥३८–४०॥

अब प्रकरणकी समाप्ति करते हुए कर्त्तव्य बता रहे हैं—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ! ॥४१॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ! ॥४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ।

अन्वय—हे धनञ्जय ! (हे अर्जुन !) योगसंन्यस्तकर्माणं (योगके द्वारा जिसने कर्मकी वासनाको त्याग दिया है उसको) ज्ञानसंछिन्नसंशयं (ज्ञानके द्वारा जिसका संशय मिट चुका है उसको) आत्मवन्तं (आत्मामें युक्त आत्मवान् पुरुषको) कर्माणि न निबध्नन्ति (कर्मोंका बन्धन नहीं होता है) । तस्मात् (इसलिये) अज्ञानसम्भूतं (अज्ञानसे उत्पन्न) हृत्स्थं (अन्तःकरणमें स्थित) आत्मनः एनं संशयं (अपने इस संशयको) ज्ञानासिना (ज्ञानरूपी तलवारसे) छित्वा (काट कर) योगं आतिष्ठ (कर्मयोगका अनुष्ठान करो), हे भारत ! (हे अर्जुन!) उत्तिष्ठ (युद्धके लिये प्रस्तुत हो जाओ) ।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! योगके द्वारा कर्मकी फलाकाङ्क्षाको त्यागनेवाले, ज्ञानके द्वारा संशयसे मुक्त आत्मवान् पुरुषको कर्मोंका बंधन नहीं स्पर्श करता है । इसलिये हे भारत ! तुम्हारे हृदयमें अज्ञानके कारण 'युद्ध करूं या न करूं' इस प्रकार जो संशय उत्पन्न हो गया है, उसे ज्ञानरूपी तलवारसे काटकर कर्मयोगमें लग जाओ और युद्धरूपी कर्त्तव्यके लिये तैयार हो जाओ ।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें ज्ञानकर्म समुच्चयकी उपकारिताको बताकर श्रीभगवान्‌ने युद्धरूपी कर्त्तव्यके लिये अर्जुनको उत्साहित किया है। भगवान्‌ने युक्त होकर निष्काम कर्म करनेसे कर्मका बन्धन नहीं लगता है और साथ ही साथ ज्ञानका आश्रय लेनेसे 'मैं मेरा' आदि मोहसे उत्पन्न 'मारूं या न मारूं' इस प्रकार संशय भी नहीं रहता है, अतः ज्ञान और निष्काम कर्म दोनोंके समुच्चय अर्थात् समन्वयके द्वारा मनुष्य अपने वर्णाश्रमानुरूप कर्त्तव्यका पूर्णरूपसे पालन कर सकता है। इसलिये अर्जुनको भी चाहिये कि ज्ञानकी सहायतासे अज्ञान मूलक संशयको छेदन करके अपने क्षत्रियवर्णोचित युद्धकार्यमें प्रवृत्त हो जाय और इस कर्त्तव्यको निष्काम कर्मयोग बुद्धिसे सम्पन्न करके परमकल्याणका अधिकारी बने, यही उनके प्रति श्रीभगवान्‌का उपदेश है ॥४१-४२॥

इस प्रकार भगवद्‌गीतारूपी उपनिषद्‌में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग' नामक चतुर्थाध्याय समाप्त हुआ।

चतुर्थ अध्याय समाप्त।



पञ्चमोऽध्यायः ।

—:०ॐ०:—

चतुर्थ अध्यायमें प्रथमतः निष्काम कर्मयोगकी प्रशंसा करते करते पश्चात् श्रीभगवान्‌ने ज्ञानयोगकी भी विशेष प्रशंसा की और ज्ञान जैसी पवित्र वस्तु संसारमें कुछ भी नहीं है, महापापी भी ज्ञानके ही सहारेसे तर सकता है, ज्ञानकी प्रचण्ड अग्नि समस्त कर्मोंको भस्म कर डालती है, इत्यादि बहुत कुछ उपदेश दिया। किन्तु ज्ञानकी इतनी स्तुति करने पर भी सबके अन्तमें अर्जुनको कर्म करनेकी ही आज्ञा दी और स्वधर्मपालनरूप युद्ध कार्यमें प्रवृत्त होनेको कहा। इस पर यही सन्देह हो सकता है कि जब ज्ञानमार्ग, जिसमें कर्मका संन्यास है, सबसे पवित्र तथा साक्षात् मुक्तिप्रद है तो पुनः कर्मयोगके पथका आश्रय क्यों किया जाय ? इसी सन्देहका निराकरण श्रीभगवान्‌ने अर्जुनकी शंकारूपसे इस अध्यायमें उत्तमरीतिसे कर दिया है यथा—

अर्जुनउवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण ! पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अन्वय—हे कृष्ण ! (हे कृष्ण !) कर्मणां संन्यासं (कर्मोंके त्यागको) पुनः योगं च (और पुनः कर्मयोगको) शंससि

(उत्तम बतलाते हो) एतयोः यत् एकं श्रेयः (इन दोनोंमेंसे जो एक मार्ग श्रेष्ठतर है) तत् मे उसे ही मुझे) सुनिश्चितं ब्रूहि (निश्चय करके बताओ)।

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! तुम ज्ञानयज्ञकी श्रेष्ठता बतलाते हुए कर्म संन्यासकी भी प्रशंसा करते हो और पुनः कर्मयोगको भी उत्तम कहते हो। अतः इन दोनोंमेंसे जो एक श्रेष्ठतर हो उसे ही निश्चय करके मुझे बताओ।

चन्द्रिका—पूर्व अध्यायमें श्रीभगवान्ने जो ज्ञानकी इतनी प्रशंसा की थी, उसका यह लक्ष्य नहीं था कि अर्जुन कर्मयोगमार्गको छोड़ कर कर्मसंन्यास पथका ही पथिक बन जाय। इसका उद्देश्य केवल अर्जुनके जीवनमें ज्ञानकर्मका समुच्चय कराना था, ताकि ज्ञानकी सहायतासे अर्जुनका मोह कट जाय और युद्धरूपी स्वधर्मपालनमें निःसङ्कोच प्रवृत्ति अर्जुनको प्राप्त हो सके। इसी कारण ज्ञानकी इतनी स्तुति करने पर भी अन्तमे श्रीभगवान्ने अर्जुनका ध्यान कर्मयोगकी ओर ही आकर्षित किया और संशयजालको ज्ञानके द्वारा काट कर युद्धके लिये प्रस्तुत होनेको कहा। किन्तु दोनो मार्गकी ही स्तुति करनेसे अर्जुनको शंका होगई कि इनमेसे कौन श्रेष्ठतर है और इसी पर अर्जुनकी यह जिज्ञासा हुई है।

जिज्ञासाके अनुरूप उत्तर श्रीभगवान् देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

अन्वय—संन्यासः (कर्मका त्याग) कर्मयोगः च (और कर्मयोग) उभौ निःश्रेयसकरौ (दोनों ही मार्ग मुक्ति देनेवाले हैं) तयोः तु (किन्तु इन दोनोंमें) कर्मसंन्यासात् (कर्मत्यागकी अपेक्षा) कर्मयोगः विशिष्यते (कर्मयोगकी विशेषता अधिक है ।

सरलार्थ—श्रीभगवान्ने कहा—कर्मत्याग और कर्मयोग दोनों मार्ग ही मुक्तिप्रद हैं । किन्तु कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्मयोगमें विशेषता है ।

चन्द्रिका—ज्ञानपथ और कर्मयोगपथ दोनोंके द्वारा ही आत्माका साक्षात्कार करके मुमुक्षु मोक्षलाभ कर सकता है, इस विषयमें पहिले ही बहुत कुछ कहा जा चुका है । ज्ञानपथमें कर्मसंन्यास विहित होनेपर भी शरीर रहते कर्मका पूर्णत्याग असम्भव है । क्योंकि चित्तशुद्धिके अर्थ ज्ञानोदयसे पहिले भी कुछ कर्म करना ही पड़ता है और ज्ञानमें सिद्धिलाभ हो जानेपर भी प्रारब्ध क्षयरूपसे ज्ञानीको कुछ न कुछ करना ही होता है । दूसरी ओर कर्मयोग मार्गमें जबरदस्ती प्रकृतिको रोकना भी नहीं पड़ता है और युक्त होकर कर्म करनेके कारण उससे बन्धन न होकर मोक्षकी ही प्राप्ति होती है । इस कारण श्रीभगवान् कहते हैं कि, दोनों मार्ग ही मुक्तिप्रद हैं, किन्तु कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगमें ही विशेषता अधिक है ॥ २ ॥

अब ऐसे सच्चे संन्यासी कौन होते हैं, सो ही बता रहे हैं ।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो ! सुखं बंधात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

अन्वय—यः न द्वेष्टि न.कांक्षति (जिसमें न द्वेष है और न राग है) सः नित्यसंन्यासी ज्ञेयः (उसे कर्मयोगमें प्रवृत्त रहनेपर भी नित्यसंन्यासी जानना चाहिये), हि (क्योंकि) हे महाबाहो ! (हे अर्जुन !) निर्द्वन्द्वः (ऐसा रागद्वेषरूपी द्वन्द्वसे रहित पुरुष) सुखं (अनायास) बन्धात् प्रमुच्यते (संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है)।

सरलार्थ—जो न किसी वस्तुके प्रति आसक्ति रखता है और न किसीसे द्वेप रखता है, किन्तु केवल परमात्मामें युक्त होकर निष्काम कर्म करता है उसे ही नित्यसंन्यासी जानना चाहिये, क्योंकि हे अर्जुन ! ऐसा रागद्वेपरहित पुरुप अनायास ही संसारबन्धनसे मुक्त होकर निःश्रेयसलाभ करता है।

चन्द्रिका—इस श्लोकमें श्रीभगवान्‌ने यही उपदेश दिया है कि, जब किसी अवस्थामें भी एकबारगी कर्मत्याग करना असम्भव है तो सच्चा कर्मसंन्यासी वही है जो कि शरीरसे कर्मत्याग न करे किन्तु रागद्वेषरूपी द्वन्द्वसे बचकर निष्काम बुद्धिसे कर्मयोगका अनुष्ठान करता जाय। क्योंकि ऐसा निस्पृह तथा द्वन्द्वरहित पुरुप ही अनायास बन्धनमुक्त होकर अपवर्ग लाभ कर सकता है ॥ ३ ॥

प्रसङ्गानुसार सिद्धान्त बता रहे हैं—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

अन्वय—बालाः (अज्ञ लोग) सांख्ययोगौ पृथक् प्रवदन्ति (कर्म संन्यास और कर्मयोग पृथक् पृथक् हैं ऐसा कहते हैं) न पण्डिताः (किन्तु विद्वान लोग ऐसा नहीं कहते), एकं अपि सम्यक् आस्थितः (इन दोनोंमेंसे एक मार्गका भी भली भांति आचरण करता हुआ) उभयोः फलं (मोक्षरूपी दोनोंके फलको) विन्दते (लाभ करता है)। सांख्यैः (ज्ञानमार्ग-वालोंको) यत् स्थानं प्राप्यते (जो मोक्षरूपी पद मिलता है) योगैः अपि (कर्मयोगियोंको भी) तत् गम्यते (वही प्राप्त होता है) यः (जो) सांख्यं च योगं च (ज्ञानमार्ग और कर्म-मार्गको) एकं पश्यति (अभिन्न देखता है) सः पश्यति (वही ठीक तत्त्वको देखता है)।

सरलार्थ—अज्ञ लोग ही कर्मसंन्यासरूपी ज्ञानमार्ग और कर्मयोगमार्गको पृथक् पृथक् कहते हैं किन्तु पण्डित लोग ऐसा नहीं कहते। इनमेंसे किसी एकका भी भली भांति आच-रण करता हुआ मनुष्य दोनोंका ही फललाभ कर लेता है। ज्ञानमार्गवालोंको जो परमस्थान प्राप्त होता है, कर्मयोगी भी वहीं पहुंचते हैं, जो इन दोनों मार्गोंको अभिन्न देखता है वही ठीक देखता है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें अन्तिम लक्ष्य तथा फलविचारसे ज्ञान योग और कर्मयोगकी अभिन्नता बताई गई है। यद्यपि ज्ञानयोगमें विचारकी प्रधानता तथा कर्मकी गौणता है और कर्मयोगमें आत्मामें युक्त होकर निष्काम कर्मानुष्ठानकी प्रधानता है तथापि अन्तमें दोनोंके द्वारा ही

आत्माका साक्षात्कार तथा अपवर्गलाभ होता है। और इन दोनोंमेंसे एकके भी अनुष्ठान द्वारा वही परमफल लाभ होता है। अतः विद्वान् जन दोनोंको एकही समझते हैं और ऐसी अभेद दृष्टिको ही तत्त्वदृष्टि जाननी चाहिये, यही श्रीभगवान्का उपदेश है ॥ ४–५ ॥

दोनोंके एक होने पर भी कर्मयोगमें विशेषता क्या है सो बता रहे हैं—

संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥
योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

अन्वय—हे महाबाहो! (हे अर्जुन!) अयोगतः (कर्मयोग के विना) संन्यासः (कर्मत्याग) आप्तुं दुःखं (प्राप्त करना कष्टकर है), योगयुक्तः तु मुनिः (किन्तु कर्मयोगमें युक्त साधु पुरुष) न चिरेण (शीघ्र ही) ब्रह्म अधिगच्छति (ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है)। योगयुक्तः (आत्मामें युक्त रहकर कर्मयोगका करनेवाला) विशुद्धात्मा (पवित्रमना) विजितात्मा (जिसका शरीर वशमें है) जितेन्द्रियः (जिसकी इन्द्रियां वशमें हैं) सर्वभूतात्मभूतात्मा (जिसका आत्मा सकलभूतोंके आत्माके साथ एक हो गया अर्थात् अभिन्न आत्मदर्शी पुरुष) कुर्वन् अपि (कर्म करते रहने पर भी) न लिप्यते (कर्ममें लिप्त नहीं होता है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! कर्मयोगके विना कर्मसंन्यासको पाना बहुत ही कष्टकर है। किन्तु योगयुक्त मुनि शीघ्रही ब्रह्म-

को पा लेते हैं। योगयुक्त, पवित्रचित्त, देह तथा इन्द्रियोंके निग्रह करनेवाले महात्मा, जिनने सकल जीवोंके आत्माके साथ अपने आत्माकी अभिन्नता देख ली है. कर्ममें लगे रहने पर भी उसमें बद्ध नहीं होते हैं।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें ज्ञानयोग तथा कर्मयोग दोनोंमें ही सिद्धिलाभके लिये कर्म करनेकी आवश्यकता बताई गई है। ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म करते करते जब चित्तशुद्धि हो जाती है, तभी निर्मल अन्तःकरणमें आत्मज्ञानकी प्रतिष्ठा हो सकती है। इसके सिवाय निष्काम कर्मयोगके द्वारा चित्तके उदार हुए विना परमोदार सर्वतोव्याप्त ब्रह्मकी धारणा भी मुमुक्षुको नहीं हो सकती है। अतः ज्ञानयोगमें कर्मकी गौणता रहने पर भी आवश्यकता अवश्य ही माननी होगी, यही कर्मसंन्यासके लिये कर्मयोगकी उपयोगिता बतानेका तात्पर्य है। इसी कारण कर्मयोगको छोड़कर जबरदस्ती कर्मसंन्यास ले लेना ठीक नहीं है और इस प्रकारसे स्वाभाविक प्रवृत्ति पर बलात्कार करना केवल ज्ञानका दम्भ बताना मात्र है। दूसरी ओर कर्मयोगीको प्रकृति पर बलात्कार नहीं करना पड़ता है, वे प्रकृतिके अनुकूल कार्यमें निष्काम भावसे युक्त रह कर अनायास ही ब्रह्मको लाभ कर लेते हैं। आत्मामें युक्त होकर कर्म करते करते अन्तमें सभी आत्माओंकी अभिन्नता अपने आत्मामें अनुभव कर ऐसे योगी कृतकृत्य होते हैं। ऐसी मुक्त दशामें उनका कोई कर्त्तव्य न रहने पर भी प्रारब्ध क्षयरूपसे अथवा जगत् कल्याणके लिये विराट्सत्ता द्वारा प्रेरित होकर वे जो कुछ कार्य करते हैं, उसके द्वारा भी उन्हें बन्धन प्राप्त नहीं होता है। यही कर्मयोगकी विशेषता है ॥ ६–७ ॥

अब कर्मयोगसिद्ध पुरुषकी निर्लिप्तताके लक्षण बताते हैं-

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन्॥ ८॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणींद्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ९॥

अन्वय—युक्तः तत्त्ववित् (कर्मयोगमें युक्त होकर तत्त्ववेत्ता पुरुष) पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् (देखते सुनते स्पर्श करते घ्राण लेते हुए) अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् (खाते जाते लेटते श्वास प्रश्वास लेते हुए) प्रलपन् विसृजन् गृह्णन् (बोलते मलमूत्र त्याग करते तथा ग्रहण करते हुए) उन्मिषन् निमिषन् अपि (और आंखोंके पलक खोलते तथा बन्द करते हुए भी) इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्ते इति धारयन (इन्द्रियगण अपने अपने विषयोंमें लगी हुई हैं ऐसी धारणा करके) किञ्चित् एव न करोमि (मैं कुछ भी नहीं करता हूँ) इति मन्येत (ऐसा समझा करते हैं)।

सरलार्थ—योगयुक्त तत्त्ववेत्ता पुरुष दर्शन श्रवण घ्राण भोजन स्पर्शरूपी ज्ञानेन्द्रिय व्यापार, गमन कथन मलमूत्रत्याग तथा ग्रहणरूपी कर्मेन्द्रिय व्यापार, श्वास प्रश्वास आदि पञ्चप्राण व्यापार, नेत्र खोलना बन्द करना आदि पञ्चगौण प्राणका व्यापार, और निन्द्रारूपी अन्तःकरण व्यापार—इन सबमें इन्द्रियादि अपने अपने व्यापारमें लगे हुए हैं, मेरा आत्मा

उससे पृथक् है ऐसी धारणा करके, मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ ऐसा ही समझते हैं।

चन्द्रिका—ये दो श्लोक पूर्व कहे हुए 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' इस वचनके दृष्टान्तरूप है। पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, मन तथा दशविध प्राणोंके द्वारा पृथक् पृथक् चेष्टाएं होती रहती हैं, किन्तु तत्त्ववेत्ता पुरुष अपने आत्माको इन सब व्यापारोंसे पृथक् समझते हैं और इन्हें शरीर, इन्द्रियां, अन्तः-करण आदिके व्यापार समझ कर इनमें लिप्त नहीं होते है। यही तत्त्ववेत्ता कर्मयोगमें सिद्धि प्राप्त योगी पुरुषका निर्लिप्त भाव है ॥ ८-९ ॥

सिद्धकी तरह साधक भी निर्लिप्त रहते हैं यथा—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥ १० ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिंद्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥

अन्वय—यः (जो योगी) ब्रह्मणि आधाय (परमात्मामें फलाफल समर्पण करके) सङ्गं त्यक्त्वा (आसक्तिरहित होकर) कर्माणि करोति (कर्मोंको करता है) सः (वह) अम्भसा पद्मपत्रं इव (कमलका पत्र जिस प्रकार जलके द्वारा लिप्त नहीं होता है ऐसा ही) पापेन न लिप्यते (पापके द्वारा अर्थात् पापपुण्यात्मक कर्मके द्वारा लिप्त नहीं होता है) योगिनः (इस कारण योगिगण) संग त्यक्त्वा (आसक्तिरहित होकर) आत्मशुद्धये (आत्माकी शुद्धिके लिये) कायेन (शरीरके

द्वारा) मनसा (मनके द्वारा) वुद्ध्या (वुद्धिके द्वारा) केवलैः इन्द्रियैः अपि (और केवल इन्द्रियोंके द्वारा भी) कर्म कुर्वन्ति (कर्म करते हैं)।

सरलार्थ—जो योगी परमात्मामें फलाफल समर्पण करके आसक्तिरहित होकर कर्मयोगका अनुष्ठान करता है, वह जल-मध्यस्थित कमलदलकी तरह पापपुण्यात्मक किसी भी कर्मके द्वारा बद्ध नहीं होता है। यही कारण है कि योगिगण आत्म शुद्धिके लिये आसक्ति छोड़ कर केवल शरीर, मन, वुद्धि या इन्द्रियोंके द्वारा कर्म करते रहते हैं।

चन्द्रिका—कर्मयोगसिद्ध तत्ववेत्ताकी अनायास कर्मविधिका वर्णन करके कर्मयोगकी साधनावस्थामें योगीका क्या भाव रहता है उसीका वर्णन इन श्लोकों द्वारा किया गया है। साधनावस्थामें योगीके दो ही भाव रहते हैं—एक सब कर्मोंका ब्रह्ममें अर्पण और दूसरा फला-फलमें आसक्तिशून्य रहना। इन दोनों भावोंके साथ कर्मयोग करते रहनेपर कमलपत्र जिस प्रकार जलमें लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार योगी भी कर्मबन्धनमें नहीं फंसता और ऐसे योगीके आत्माके ऊपरसे मल, विक्षेप, आवरण सभी हट जाते हैं और उसके पवित्र आत्मामें अद्वैत भावका अनुभव होने लगता है। श्लोकमें 'पाप' शब्दके द्वारा पापपुण्यरूपी कर्म पर लक्ष्य किया गया है अर्थात् ऐसा योगी पापकर्म या पुण्यकर्म किसीके द्वारा लिप्त नहीं होता। दूसरे श्लोकमें 'केवल' शब्दका सम्बन्ध 'काय' 'मन' 'वुद्धि' और 'इन्द्रिय' सभीके साथ समझने योग्य है। अर्थात् योगी आसक्तिहीन, ममत्वहीन होकर केवल शरीर इन्द्रियादि मात्रके द्वारा कर्म करता है॥ १०–११ ॥

प्रसङ्गानुसार कर्मयोगकी उन्नत स्थिति बता रहे हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन् ॥१३॥

अन्वय—युक्तः (योगयुक्त पुरुष) कर्मफलं त्यक्त्वा (कर्मफलको त्याग करके) नैष्ठिकीं शान्ति (योगद्वारा परमात्मामें एकान्त निष्ठासे उत्पन्न विमल पूर्ण शान्तिको) आप्नोति (पाता है) अयुक्तः (योगहीन पुरुष) कामकारेण (वासनाके द्वारा प्रेरित होनेसे) फले सक्तः (कर्मफलमें आसक्त होकर) निबध्यते (बन्धन प्राप्त होता है) वशी (जितेन्द्रिय) देही (देहवान् पुरुष) मनसा सर्वकर्माणि संन्यस्य (मनके द्वारा सकल कर्मोंको छोड़कर अर्थात् कर्मोंके प्रति फलासक्तिरहित होकर) सुखं (बड़े आनन्दसे) नवद्वारे पुरे (नौ द्वारसे युक्त देहनगरीमें) न एव कुर्वन् न कारयन् (न कुछ करता और न कराता हुआ) आस्ते (रहा करता है)।

सरलार्थ—योगयुक्त पुरुष कर्मफलका परित्याग करके आत्मामें निष्ठाजन्य आत्यन्तिक पूर्ण शान्तिका लाभ करते हैं, किन्तु अयुक्त जीव कामनाका दास बनकर कर्मफलमें आसक्त हो कर्मबन्धन द्वारा बद्ध हो जाता है। जितेन्द्रिय योगी वासना रहित होनेके कारण मनसे सभी कर्मोंका त्याग करके नवद्वार देहनगरीमें कुछ न करते कराते सुखसे विराजते रहते हैं।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें आत्मामें युक्त कर्मयोगीकी क्रमशः प्राप्त परमोन्नत आध्यात्मिक स्थिति बताई गयी है। योगहीन पुरुष वासनाका दास बन कर दुर्दशाको पाता है, किन्तु योगयुक्त पुरुष आत्मामें एकान्त निष्ठा रखते हुए आत्माकी विमल शान्तिका उपभोग करते हैं, अन्तमें पूर्णवासनाशून्य हो जाने पर योगीको यही अनुभव हो जाता है कि उनका आत्मा शरीरसे बिलकुल निर्लिप्त है, जो कुछ कर्त्ता धर्त्ता है सब शरीरकी प्रकृति ही है, वह केवल देहनगरीमें उदासीन तथा आनन्द-भावमें बसा हुआ है। यही योगीकी अत्युत्तम आनन्दमयी निर्लिप्त स्थिति है। श्लोकमें 'मनसा' शब्दके द्वारा यही बताया गया है कि, शरीरके द्वारा चेष्टा होते रहने पर भी योगीका मन कर्ममें नहीं फंसता है। शरीरमें दो कान, दो आंख, दो नाक, मुख, पायु और उपस्थ ये नौ छिद्र होते हैं, जिस कारण शरीरको नवद्वारपुरी कहा जाता है ॥१२-१३॥

अब शास्त्रप्रमाणसे आत्माकी इस निर्लिप्त स्थितिका वर्णन कर रहे हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥१४॥
नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

अन्वय—प्रभुः (परमात्मा) लोकस्य (लोगोंके) न कर्तृत्वं न कर्माणि न कर्मफलसंयोगं सृजति (कर्तृत्व, कर्म तथा कर्मफलके साथ सम्बन्धको नहीं करते) स्वभावः तु (किन्तु प्रकृति) प्रवर्त्तते (सब कुछ करती है)। विभुः

(परमात्मा) कस्यचित् (किसीका भी) पापं न आदत्ते (पाप नहीं लेते) न च एव सुकृतं (और पुण्यको भी नहीं लेते), अज्ञानेन (अज्ञानके द्वारा) ज्ञानं आवृतं (ज्ञान ढका हुआ है) तेन (इस कारण) जन्तवः (जीवगण) मुह्यन्ति (मुग्ध हो जाते हैं)।

सरलार्थ—जीवमें जो 'मैं करता हूं' यह कर्तृत्वभाव है, कर्म है और कर्मफलके साथ जीवका सम्बन्ध भी है, इसमें परमात्मा कुछ भी नहीं करते या कराते। केवल माया ही जीवके द्वारा ये सब कराती है। किसीके पाप या पुण्यके साथ भी परमात्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। अज्ञान या अविद्याके द्वारा जीवका ज्ञान आच्छन्न है, इसी कारण संसारमें मुग्ध होकर कर्तृत्व आदि अभिमानके द्वारा जीव ग्रस्त हो जाता है। प्रकृतिके इन सब खेलोंके साथ निर्लिप्त आत्माका कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

चन्द्रिका—आत्मामें युक्त होकर निष्काम कर्मको करते करते देहनगरीमें विराजमान आत्माकी निर्लिप्तताके विषयमें योगीको जो अनुभव होने लगता है उसीका शास्त्रीय वर्णन इन दो श्लोकोंमें किया गया है। श्रुतिमें लिखा है—"समानः सन् उभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव स धीः" "स न साधुना कर्मणा भूयान्नासाधुना कर्मणा कनीयान्" आत्मा समान रूपसे दोनों लोकोंमे व्याप्त है; प्राकृतिक सदसत् परिणामके साथ उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, वह किसीके पुण्यकर्मसे न पुष्ट ही होता है और किसीके पापकर्मसे न छोटा ही होजाता है।

प्रकृतिके त्रिगुण परिणाम द्वारा ही संसारमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व, कर्म, कर्मफल, पाप पुण्य आदि उत्पन्न होते हैं और प्रकृति अज्ञान द्वारा जीवको फंसाकर कर्त्तृत्वादि अभिमान जीवके हृदयमें भर देती है। अतः अज्ञान ही बन्धनका कारण है। योगयुक्त होकर नवद्वारपुरीमें आत्माकी उदासीनता तथा निर्लिप्तताको देखते देखते यह अज्ञान कट जाता है और तभी योगीके निर्मल चित्तमें यथार्थ ज्ञानका उदय होता है॥ १४–१५॥

यह ज्ञान तथा इसका फल क्या है सो ही बता रहे हैं—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥१६॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥१७॥

अन्वय—आत्मनः ज्ञानेन तु (किन्तु तत्त्वज्ञानके द्वारा) येषां तत् अज्ञानं (जिनका वह अज्ञान) नाशितं (नष्ट हो जाता है) तेषां तत् ज्ञानं (उनका वह ज्ञान) आदित्यवत् (सूर्यकी तरह) परं प्रकाशयति (परमतत्त्वरूपी ज्ञेय वस्तुको प्रकाशित करता है)। तद्बुद्धयः (परमतत्त्वमें जिनकी बुद्धि लगी हुई है) तदात्मानः (परमतत्त्व ही जिनका आत्मा है) तन्निष्ठाः (परमतत्त्वमें जो सदा ठहरते हैं) तत्परायणाः (परमतत्त्व ही जिनकी परम गति है ऐसे महात्मागण) ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः (ज्ञानके द्वारा निष्पाप होकर) अपुनरावृत्तिं (निर्वाण मोक्षको) गच्छन्ति (पाते हैं)।

सरलार्थ—किंतु तत्त्वज्ञानके द्वारा जिनका अज्ञान नष्ट हो

चुका है उनके लिये वही तत्त्वज्ञान सूर्य्य जिस प्रकार समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञेयरूपी परमतत्त्व-को प्रकाशित कर देता है। इसी परमतत्त्वरूपी परमात्मामें जिनकी बुद्धि समाविष्ट है, आत्मा अद्वैतभावके साथ तल्लीन है, निष्ठा पूर्ण है तथा परमतत्त्व ही जिनका परम आश्रयस्थान है, ऐसे महात्मागण ज्ञानद्वारा निष्पाप होकर उस परमपदको पाते हैं जहांसे दुःखमय संसारमें उन्हें पुनः लौटना नहीं पड़ता है।

चन्द्रिका—जब तक हृदयमें अज्ञानका अन्धकार भरा हुआ है तब तक न आत्माका सच्चा निर्लिप्त स्वरूप ही जीवको सूझता है और न तत्त्वज्ञानका ही विकाश होता है। इस दशामें जीव अविद्याका दास। बनकर घटियन्त्रकी तरह जननमरणचक्रमें घूमता रहता है। किन्तु योग-युक्त होकर स्वधर्मका पालन करते करते योगी जब तत्त्वज्ञानको लाभ कर लेता है तब उनका समस्त अज्ञानान्धकार कट जाता है और सूर्य प्रकाशकी तरह ज्ञान प्रकाशसे ज्ञेय परमात्माका उन्हे पता लग जाता है। इसी परमात्मामें अपनी आत्माकी अभिन्नताको देख कर परमात्मामें ही लवलीन हो ज्ञानी महात्मा परमधामको पा जाते हैं ॥ १६–१७॥

अब तत्त्वज्ञानी पुरुषकी उत्तमा अद्वैत स्थितिका वर्णन कर रहे हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥१८॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥२१॥

अन्वय—विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे (ज्ञान तथा विनयसे युक्त उत्तम संस्कारी ब्राह्मणमें) गवि (संस्कारहीन मध्यम कोटिके जीव गाय आदिमें) हस्तिनि शुनि च श्वपाके एव च (अधम तामसिक कोटिके जीव हाथी, कुत्ते, चण्डाल, आदिमें भी) पण्डिताः (ज्ञानिगण) समदर्शिनः (अद्वैत आत्माके विचारसे एकदर्शी होते हैं) येषां मनः साम्ये स्थितं (जिनका मन समभावमें ठहर गया है) इह एव (यहीं जीवित कालमें ही) तैः सर्गः जितः (उन्होंने संसारको जीत लिया है) हि (क्योंकि) ब्रह्म निर्दोषं समं (ब्रह्म दोषशून्य तथा सम है) तस्मात् (इस लिये) ते ब्रह्मणि स्थिताः (समदर्शी तथा समभावमें स्थित पुरुषगण ब्रह्ममें ही स्थित होते हैं)। ब्रह्मवित् (ब्रह्मवेत्ता) ब्रह्मणि स्थितः (ब्रह्मस्वरूपमें विराजमान) स्थिरबुद्धिः (संशयहीन निश्चल बुद्धि) असंमूढः (मोहवर्जित महात्मा) प्रियं प्राप्य (प्रिय वस्तुको पाकर) न प्रहृष्येत् (आनन्दसे अधीर नहीं होते हैं) अप्रियं च प्राप्य (और अप्रिय वस्तुको पाकर) न उद्विजेत् (दुःखसे चञ्चल नहीं हो जाते

हैं)। बाह्यस्पर्शेषु (बाहिरी इन्द्रियोंके विषयोंमें) असक्तात्मा (आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला पुरुष) आत्मनि (आत्मामें) यत् सुखं (जो सुख है) विन्दति (उसीको पाता है), सः ब्रह्मयोगयुक्तात्मा (ऐसा ब्रह्ममें योगके द्वारा युक्तचित्त पुरुष) अक्षय सुखं अश्नुते (क्षयरहित नित्यानन्दको लाभ करता है ।

सरलार्थ—प्रकृति वैषम्यके भीतर भी सम आत्मा एक ही है इस विचारसे ज्ञानिगण विद्या विनयसे युक्त उत्तम कोटिके जीव ब्राह्मण, मध्यम कोटिके जीव गवादि तथा अधम कोटिके जीव हस्ती, श्वान, चाण्डालादि सभीमें समदर्शी होते हैं। इस लोकमें ही उन्होंने संसारको जीत लिया है, जिनका अन्तःकरण इस साम्यमें ठहर गया, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष तथा सम है, इसलिये वे साम्यमें ठहर कर ब्रह्ममें ही ठहरते हैं। ऐसे ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मस्वरूपमें विराजमान, निश्चलबुद्धि, मोहवर्जित महात्मा न प्रियमें ही प्रसन्न होते हैं और न अप्रियमें ही उद्विग्न होते हैं। जिनका मन बाहिरी इन्द्रियोंके विषयोंमें नहीं फंसता है उनको आत्माका ही आनन्द मिलता है, ऐसे ब्रह्ममें योगयुक्त पुरुष नित्यानन्दका उपभोग करते हैं।

चन्द्रिका—सभीमें आत्माके अनुभवसे समदृष्टि होना, मायासे परे समभावमें सदा विराजमान रहना, प्रियाप्रिय, सुखदुःखादि द्वन्द्वोंमें उदासीन तथा एक भावापन्न रहना और अपार ब्रह्मानन्द महासागरमें डूबे रहना—यही सब तत्त्वज्ञानी महात्माकी अनोखी स्थिति है। ज्ञानी

महात्मा अद्वैत आत्माके अनुभवसे उत्तम, मध्यम अधम सभी जीवोंमें 'समदर्शी' होने पर भी 'समवर्त्ती' नहीं होते हैं। श्रीभगवान् शंकराचार्यने कहा है—'भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्' अद्वैत भावमें होना चाहिये किन्तु क्रियामें नहीं होना चाहिये। अन्यथा पत्नी और माताका भेद भूलकर तथा मुनि और चाण्डालका भेद भूल कर मनुष्य अनाचारी, अत्याचारी हो सकता है। इस कारण आत्माके अद्वैत बोधसे समदृष्टि रहने पर भी ज्ञानी महात्मा भिन्न भिन्न पिण्डमें आत्माके विकाश तारतम्यानुसार वर्त्तावमें लघुगुरुका भेद अवश्य ही करते हैं, यही प्रथम श्लोकका रहस्य है। द्वितीय श्लोकका तात्पर्य यह है कि समस्त वैषम्य मायाके तीन गुणोंकी विषमताके द्वारा ही उत्पन्न होता है। समस्त प्रपञ्च इसीके भीतर है और इससे बाहर सम ब्रह्म है। इस कारण जिस महात्माने अपनी त्रिगुणमयी प्रकृतिकी विषमताको दूर कर दिया है, उसने प्रपञ्चको भी जीत लिया है और ब्रह्मको भी पा लिया है यही समझना चाहिये। ब्रह्म निर्दोष तथा सम है। जहां प्रकृति है वहीं त्रिगुण विकारसे उत्पन्न गुण दोष है। जहां प्रकृति नहीं है वहां न गुण है और न दोष है। इस कारण प्रकृतिराज्यके भीतरकी सभी वस्तुओंमें गुण दोष दोनों ही होते हैं और इससे परे विराजमान समरूपी ब्रह्म निर्गुण भी है और निर्दोष भी है। समभावमें स्थित महात्मा इसी ब्रह्मको जानकर ब्रह्मभावमें स्थित तथा ब्रह्मरूप हो जाते हैं। वे संसारमें रहते हुए ही संसारको इस तरहसे जीत लेते हैं। यथा—

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वाऽपि दत्तावनि-
र्यज्ञानाञ्च कृतं सहस्रमखिलं देवाश्च सम्पूजिताः।

संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ ।
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्य्यं मनः प्राप्नुयात् ॥

जिसका मन ब्रह्मविचारमें क्षणभर भी ठहरता है, जानना चाहिये कि, उसने समस्त तीर्थस्नानका पुण्य लाभ कर लिया है, समस्त पृथिवी-दानका भी फल पा लिया है, सहस्र यज्ञानुष्ठान तथा कोटि कोटि देवपूजन-का भी फल उसको मिल गया, अपने पितरोंको उसने तार दिया और स्वयं भी त्रिलोकीका पूज्य बन गया । यही सब ब्रह्मकी तथा ब्रह्ममय महात्माकी महिमा है, ऐसे ज्ञानी महात्मा आत्मामें ठहर कर लौकिक सुखःदुख, प्रिय अप्रिय आदि द्वन्द्व वस्तुओंमें नहीं फँसते और न बाहिरी इन्द्रियोंके विषयोंमें ही फंस जाते हैं । व आत्मामें विराजमान होकर आत्माके ही नित्यानन्दमें लबालब भरे रहते हैं । विषयका सुख सीमाबद्ध, क्षयशील तथा परिणाममें दुःखदायी है, किन्तु आत्माका आनन्द असीम, अक्षय तथा सुख दुःखसे रहित नित्यानन्द है । यथा श्रुतिमें,—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो,
निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा,
स्वयं यदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

समाधिके द्वारा निर्मल तथा आत्मामें लवलीन अन्तःकरणमें जो असीम नित्यानन्दका अनुभव होता है, उसका वर्णन शब्दके द्वारा होना असम्भव है, योगी केवल अन्तःकरणके गम्भीर देशमें ही उस अनुपम, असीम, अक्षय आनन्दका उपभोग तथा अनुभव कर सकता है । यही सब मुक्तात्मा ज्ञानी पुरुषकी उत्तमा स्थिति है ॥ १८–२१ ॥

अब प्रसङ्गोपात्त बाह्यविषयसुखके मन्द परिणामको बताकर अन्तःसुखकी उत्तमताको दिखा रहे हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यंतवंतः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

अन्वय—हे कौन्तेय ! (हे अर्जुन !) ये हि (जो कुछ) संस्पर्शजाः भोगाः (विषयोंके साथ इन्द्रियोंके स्पर्श द्वारा उत्पन्न भोग हैं) ते एव (वे सब केवल) दुःखयोनयः (दुःखके ही उत्पत्ति करने वाले होते हैं) आद्यन्तवन्तः (वे आदि अंतसे युक्त अर्थात् अनित्य होते हैं), बुधः (इसलिये विवेकी जन) तेषु (उन विषयोंमें) न रमते (नहीं रमण करते हैं)। यः (जो) शरीरविमोक्षणात् प्राक् (मरनेके बाद जैसे मरनेसे पहले) इह एव (जीते जी) कामक्रोधोद्भवं वेगं (काम और क्रोधसे उत्पन्न वेगको) सोढुं शक्नोति (धीरतासे सहन कर सकता है) सः नरः (वही मनुष्य) युक्तः (योगी) सः सुखी (वही मनुष्य सुखी है)। यः (जो योगी) अन्तः सुखः (विषयोंमें सुखकी लालसा न रख कर आत्मामें ही सुखी रहते हैं) अन्तरारामः (आत्मामें ही रमण करते हैं) तथा यः अन्तर्ज्योतिः (और जिनको प्रकाश आत्मासे ही मिलता

है) सः एव योगी (वे ही योगी) ब्रह्मभूतः (ब्रह्मरूप होकर) ब्रह्मनिर्वाणं अधिगच्छति (ब्रह्ममें लवलीन हो जाते हैं)।

सरलार्थ—हे अर्जुन! बाहिरी विषयोंके साथ इन्द्रियोंके संस्पर्श द्वारा जो कुछ भोग सुख उत्पन्न होते हैं वे दुःखकी ही जननी हैं, इनके आदि अन्त होनेके कारण वे सब अनित्य हैं, इस लिये विवेकी पुरुष बाहिरी विषयसुखमें नहीं फंसते हैं। जैसे प्राण निकल जानेपर मृतशरीरमें काम क्रोधके वेग नहीं होते हैं ऐसे ही जीते जी जो काम क्रोधके वेगको सहन कर सकता है वही योगी है और वही सुखी है। जिनका सुख आत्मामें है, जिनका रमण आत्मामें है और जिनको प्रकाश लाभ आत्मासे ही होता है, वेही योगी ब्रह्मरूप होकर ब्रह्ममें ही अनन्त निर्वाणको पा जाते हैं।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें प्रथमतः विषयसुखकी तुच्छता बता कर पश्चात् आत्मानन्दकी महिमा बताई गई है। योग-दर्शनमें सूत्र है—'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिरोधाच्च दुःमेव सर्वं विवेकिनः' अर्थात् विषयसुखके साथ परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कार दुःख आदिके होनेसे विवेकी पुरुष विषयसुखको दुःख ही समझते हैं। परिणामदुःख अर्थात् विषय सेवाके परिणाममें इहलोकमें रोगादिजन्य अनेक दुःख, मृत्युके समय वियोगदुःख, मृत्युके बाद नरकदुःख तथा परजन्ममें हीनयोनि लाभके द्वारा अनेक दुःख होते हैं। तापदुःख अर्थात् सुखभोगके समय समानसुखी या अधिकसुखीको देखकर ईर्ष्याद्वेषजन्य अनेक दुःख होते हैं। संस्कार-दुःख अर्थात् यौवनकालीन विषयभोगका संस्कार असमर्थ वृद्धदशामें अनेक

दुःख उत्पन्न करता है। इन्हीं कारणोंसे विवेकी जन विषयसुखको दुःखकी जननी समझ कर उसमें नहीं फँसते हैं। किन्तु अविवेकी जन तमोमोह महामोहके कारण इसी विषयविषमें ही रमे रहते हैं। और पश्चात् हाहाकार करते रहते हैं। यही गहना मोहमहिमा तथा अविद्याकी लीला है। श्लोकमें 'बुध' शब्द तथा सूत्रमें 'विवेकिनः' शब्द देनेका यही तात्पर्य है। अर्थात् 'बुध' गणके विरत होनेपर भी 'अबुध' गण विषयमें रमे ही रहते हैं। द्वितीय श्लोकमें विषयत्यागी जीवकी सुखमय योगस्थितिका वर्णन किया गया है। महर्षि वशिष्ठने कहा है—

प्राणे गते यथा देहः सुखदुःखे न विन्दति।
तथा चेत् प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत्॥

जिस प्रकार शरीरसे प्राण निकल जानेपर वह शरीर स्त्रीके द्वारा आलिङ्गित होनेपर भी कामुक नहीं होता है और पुत्रादिके द्वारा जलाये जानेपर भी क्रुद्ध नहीं होता है, उसी प्रकार जीते जी ही जिसने काम तथा क्रोधके वेगको सात्त्विकी धृतिके द्वारा इतना दबा लिया है कि, काम तथा क्रोधके कारण उपस्थित होनेपर भी किसीका वेग उसके शरीर तथा मनमें नहीं उत्पन्न होता है, उसीका ही धीर अन्तःकरण आत्मामें निश्चल होकर अनन्त आनन्दका लाभ कर सकता है और आत्मामें निश्चल वही योगी यथार्थमें युक्त पुरुष है। तृतीय श्लोकमें इसी भावको आगे बढ़ाकर कहा गया है कि, ऐसे योगीका सुख अन्तः अर्थात् आत्मामें ही है, आराम अर्थात् खेलकूद भी आत्मामें ही है और उन्हें प्रकाश भी आत्मासे ही मिलता है। वे 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इस श्रुति सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्ममें रमते रमते ब्रह्मसमुद्रमें ही लवलीन होकर स्वयं भी ब्रह्मरूप बनकर निर्वाण मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं॥२२-२४॥

ऐसे महात्मामें और क्या क्या भाव होते हैं, सो बता रहे हैं—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥
कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

अन्वय—क्षीणकल्मषाः (निष्पाप) छिन्नद्वैधाः (अद्वितीय आत्माके अनुभवसे द्विधाभावरहित) यतात्मानः (संयतमना संयतेन्द्रिय) सर्वभूतहिते रताः (सकल जीवोंके कल्याणमें रत) ऋषयः (सूक्ष्मदर्शी महात्मागण) ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते (ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त हो जाते हैं)। कामक्रोधविमुक्तानां यतचेतसां विदितात्मनां यतीनां (काम क्रोधसे रहित, संयतचित्त, आत्मज्ञ यतियोंका) अभितः (दोनों ही ओर) ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते (मोक्ष रहता है)।

सरलार्थ—निष्पाप, द्विधाभावरहित, संयतचित्त, जीवकल्याणरत सूक्ष्मदर्शी महात्मागण ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त करते हैं। ऐसे कामक्रोधरहित, संयतान्तःकरण, आत्मतत्त्वज्ञ यतिगण जीवितकालमें भी जीवन्मुक्त हैं और शरीरपातके बाद भी विदेहमुक्ति लाभ करके परब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं।

चन्द्रिका—इन सभी श्लोकोंमें श्रीभगवान्‌ने तत्त्वज्ञानी मुक्तात्मा पुरुषकी उत्तमा स्थिति तथा किन किन उपायोंसे ऐसी स्थिति मिलती है, उनका भी दिग्दर्शन कराया है। प्रथम तपोबलसे मुमुक्षुको पापहीन

होना पड़ता है। जिस प्रकार तपानेसे ही सोना निर्मल होकर चमकता है, उसी प्रकार तपस्याके द्वारा ही शरीर, मन निर्मल तथा पापविहीन होता है। श्रुतिमें भी लिखा है 'तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते'। तपस्याके द्वारा पापनाश और ज्ञानके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसलिये प्रथम तपस्या द्वारा निष्पाप होनेके बाद ज्ञानद्वारा मुमुक्षुको द्विधाभावरहित होना पड़ता है, क्योंकि अज्ञान ही अद्वितीय ब्रह्ममें समस्त द्वैत प्रपञ्चका विस्तार करता है। इसी ज्ञानके साथ साथ मुमुक्षुको संयतचित्त होना पड़ता है, जो उपासना तथा योगक्रिया साध्य है। क्योंकि उपासना तथा योगके द्वारा ही योगी चञ्चल मनको परमात्मामें लगाकर निश्चल कर सकता है। बिना विश्वजीवनके साथ अपने जीवनको मिलाये मुमुक्षु विश्वरूप परमात्माके साथ एक नहीं हो सकता, इसलिये ज्ञान तथा उपासनाके साथ साथ मुमुक्षुको कर्मयोग द्वारा जगतकी सेवामें भी रत रहना पड़ता है। इस प्रकारसे तपस्या द्वारा क्षीणपाप महात्मा ज्ञान, कर्म, उपासनाके समुच्चयात्मक साधन द्वारा ब्रह्मनिर्वाणको लाभ करते हैं। यही श्रीभगवान्‌के मुखपद्मनिःसृत कर्मोपासना ज्ञान समुच्चय रहस्य है, जिसका विस्तार अध्यायभेदसे समस्त गीतामें किया गया है। ऐसी अवस्थाको पाकर यति महात्मा जीवितकालमें जीवन्मुक्त पदवीपर विराजमान रहते हैं और देहपातानन्तर विदेहमुक्ति दशामें परब्रह्ममें परमनिर्वाण लाभ करते हैं॥ २५–२६॥

पुनरपि इसी उत्तम अनुपम स्थितिका वर्णन करते हैं—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवांतरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥२७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ २८॥

अन्वय—बाह्यान् स्पर्शान् (बाहिरी विषयोंको) बहिः कृत्वा (बाहर ही रखकर, मनमें न आने देकर) चक्षुः च भ्रुवोः अन्तरे एव (और आंखोंको भौहोंके बीचमें रखकर) नासाभ्यन्तरचारिणौ (नाकके भीतर चलनेवाले) प्राणापानौ (प्राण तथा अपान वायुओंको) समौ कृत्वा (कुम्भक द्वारा समान करके) यतेन्द्रियमनोबुद्धिः (इन्द्रिय मन बुद्धिका संयम करनेवाला) मोक्षपरायणः (मोक्षमें एकान्तरत) विगतेच्छाभयक्रोधः (वीतरागभयक्रोध) यः मुनिः (जो आत्माका मननशील महात्मा है) सः सदा मुक्तः एव (वह सदा मुक्त ही है अर्थात् मुक्तिके लिये उसको और कुछ भी करना नहीं होता है)।

सरलार्थ—बाहरी विषयोंको बाहर ही डालकर नेत्रोंको दोनों भौहोंके बीचमें ठहराकर, नासिकाके भीतर बहनेवाले प्राणापानके वैषम्यको दूरकर इन्द्रिय मन बुद्धिको संयत किये हुए, मोक्षमें मनको लगाये हुए, इच्छा भय क्रोधसे मुक्त मुनिको मुक्त ही जानना चाहिये, उनकी मुक्तिके लिये ऐसा ही रहना यथेष्ट है।

चन्द्रिका—इन दो श्लोकोंमें मुक्तात्माकी साधना और सिद्धिका वर्णन किया गया है। रूपरसादि बाह्यइन्द्रियोंके विषयचिन्ताके द्वारा चित्तमें आकर योगीको चञ्चल कर देते हैं। इसलिये इन्हें बाहर ही धर देना, भीतर न आने देना वैराग्यरूपी साधन है। वैराग्यके अनन्तर

अभ्यास प्रारम्भ होता है, क्योंकि 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' अर्थात् वैराग्य और अभ्यासके द्वारा ही चित्तवृत्तिका निरोध हो जानेपर परमात्माके दर्शन होते हैं, यही योगदर्शनका सिद्धान्त है। अभ्यासमें नेत्रयुगलको दोनों भौहोंके बीचमें रखना प्रथम साधन है। नेत्र खुले रहनेपर बहिर्विषय सूझते हैं और बन्द रहनेपर निद्रा आ सकती है। इस कारण अर्द्धनिमीलित अर्थात् आधे खुले आधे बन्द नेत्रोंको भौहोंके बीचमें रखनेसे चित्त स्थिर शीघ्र हो जाता है। यही प्रथम साधन है। प्राण अपानकी विषमतासे ही प्रकृतिका वैषम्य तथा चित्तका चाञ्चल्य बढ़ता है। इस कारण वायुका समभाव रखना चित्तस्थिरताके लिये दूसरा साधन है। कुम्भकके द्वारा अथवा इनकी गति रोध करके नासिकाके भीतर ही स्वल्पगति कर देनेसे प्राणापान सम हो जाते हैं। ऐसे योगीके मन, इन्द्रिय, बुद्धि सभी शीघ्र संयत हो जाते हैं, अन्तःकरण मोक्षमार्गमें लग जाता है, राग, भय, क्रोध आदि वृत्तियां इनसे दूर भाग जाती हैं और इस तरह वे आत्माके मननमें लवलीन हो आत्माको ही पा लेते हैं। इनकी मुक्तिके लिये उपायान्तरकी आवश्यकता नहीं रहती। वे जीते भी मुक्त रहते हैं और मरनेपर निर्वाणपदको प्राप्त करते हैं ॥ २७–२८ ॥

ऐसी उत्तमा स्थितिमें आत्माका कैसा अनुभव होता है सो ही बता कर प्रकरणका उपसंहार कर रहे हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः।

अन्वय—मां (मुझे) यज्ञतपसां भोक्तारं (यज्ञ तथा तपके भोक्तारूपसे) सर्वलोकमहेश्वरं (सकल लोकोंके परम ईश्वररूपसे) सर्वभूतानां सुहृदं (सकलजीवोंके बन्धुरूपसे) ज्ञात्वा (जान कर) शान्तिं ऋच्छति (मुक्तिरूपी आत्यन्तिक शान्तिको योगी प्राप्त कर लेता है)।

सरलार्थ—आत्मपरायण मुनि मुझे सकलयज्ञ तथा सकल तपस्याओंके भोक्ता, समस्त विश्वके परमपिता परमेश्वर तथा निखिलजीवोंके अहेतुक बन्धुरूपसे अनुभव करके मोक्षरूपो आत्यन्तिक शान्तिका लाभ करते हैं।

चन्द्रिका—परमात्मामें मन लगाये हुए मननशील जितेन्द्रिय मुनि साधनाके परिपाकमें यही अनुभव करने लगते हैं, कि समस्त विश्वमें कर्त्ता भोक्ता नियन्ता सभी एक अद्वितीय परमात्मा ही हैं। ये ही क्षेत्रज्ञरूपसे सकल भूतोंमें विराजमान रह कर उनके द्वारा अनुष्ठित यज्ञ तथा तपोंके फलभोग करते हैं, ये ही महेश्वररूपसे समस्त जीव तथा हिरण्यगर्भादि तकके नियन्ता बने रहते हैं और ये ही अपने अंशरूपी जीवोंके प्रति नैसर्गिक अहेतुक दया करते हुए सदा इनकी रक्षा तथा अपनी ओर धीरे धीरे अपनी ही मोहिनी मायाका पर्दा हटा कर इन्हें आकर्षण करते हैं। द्वैतभावमय अनन्तकर्त्तृत्व भोक्तृत्वमय प्रपञ्चके भीतर इस प्रकारके परमात्माकी अद्वैतसत्ताका अनुभव होनेसे जितेन्द्रिय मुनि पुनः द्वैतमें नहीं फँस सकते हैं, वे समस्त द्वैतभावके मूलमें शान्तिमय, समतामय, अद्वैत महाभावकी उपलब्धि करके हुए निर्वाणरूपी परमा शान्तिको ही

प्राप्त कर लेते हैं। यही तत्त्वज्ञानी योगीकी शान्तिमय अन्तिम स्थिति है ॥ २९ ॥

इस प्रकार भगवद्गीतारूपी उपनिषद्मे ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत
योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुन संवादका 'संन्यासयोग'
नामक पांचवां अध्याय समाप्त हुआ।

पञ्चम अध्याय समाप्त ।



षष्ठोऽध्यायः ।



पञ्चम अध्यायमें 'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्' इत्यादि अन्तिम तीन श्लोकोंके द्वारा उपासना योगकी ओर श्रीभगवान्ने जो इङ्गित किया था, उसीका विस्तार इस अध्यायका प्रतिपाद्य विषय है। पहिले ही भूमिकामें लिखा गया है कि, गीताके १८ अध्यायोंमेंसे प्रथम छः अध्याय कर्मप्रधान, द्वितीय छः अध्याय उपासनाप्रधान और तृतीय छः अध्याय ज्ञानप्रधान हैं। तदनुसार सप्तम अध्यायसे उपासनाका विषय प्रधानरूपसे प्रारम्भ होगा। इसी सूर्योदयसे पहिले अरुणोदयकी तरह षष्ठ अध्यायमें उपासना पर विवेचन किया गया है और जिस प्रकार मुमुक्षु कर्मयोगकी सहायतासे स्वधर्म पालन करता हुआ आत्माको प्राप्त हो सकता है, उसी प्रकार उपासना या क्रियायोगकी सहायतासे चित्तवृत्ति निरोध द्वारा परमात्मा कैसे लभ्य हो सकते हैं इसीका उपदेश श्रीभगवान्ने इस अध्यायमें किया है। यथार्थमें संन्यास क्या वस्तु है, नीरे कर्मत्यागको ही संन्यास कहते हैं अथवा वासनात्याग ही त्याग है इस विषयकी चर्चा पहिले अध्यायमें चलती ही थी, इस कारण प्रथमतः संन्यास पर ही विवेचन करते हुए प्रकृत विषय पर आ रहे हैं।

श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव !।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगि भवति कश्चन ॥२॥

अन्वय—यः (जो) कर्मफलं अनाश्रितः (कर्मफलका आश्रय न करके) कार्यं कर्म करोति (कर्त्तव्य कर्मको करता है), सः संन्यासी च योगी च (वही संन्यासी है और योगी है) न निरग्निः (केवल अग्निहोत्रादि कर्मोंका त्यागनेवाला संन्यासी नहीं होता है,) न च अक्रियः (अथवा समस्त कर्मोंको त्याग देने पर भी संन्यासी नहीं होता है)। हे पाण्डव ! (हे अर्जुन !) यं संन्यासं इति प्राहुः (जिसको पण्डितगण संन्यास कहते हैं) तं योगं विद्धि (उसे ही योग करके जानो) हि (क्योंकि) असंन्यस्तसंकल्पः (फलाकाङ्क्षाका संन्यास न करनेसे) कश्चन (कोई भी) योगी न भवति (योगी नहीं होता है)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्‌ने कहा—कर्मफलका आश्रय न करके जो कर्त्तव्य कर्मको करता रहता है वही संन्यासी और वही योगी है। केवल अग्निहोत्रादि कार्योंको त्याग देने पर या समस्त कर्मोंको त्याग देने पर संन्यासी नहीं होता है। हे अर्जुन ! पण्डितगण जिसे संन्यास कहते हैं, उसे ही योग

समझो क्योंकि फलाकांक्षाके त्यागके बिना कोई भी योगी नहीं हो सकता है।

चन्द्रिका—पञ्चमाध्यायके विवेचनके अनुसार इसमें भी श्रीभगवान् 'फलत्याग' पर ही बहुत जोर देकर संन्यास और योग दोनोंकी एकता सिद्धि कर रहे हैं। पंचमाध्यायमें 'संन्यास' शब्दके द्वारा 'ज्ञानयोग' पर लक्ष्य करके यही बताया था कि, बिना निष्काम-कर्मद्वारा चित्तशुद्धि किये ज्ञानयोगमें अधिकार नहीं होता है जैसा कि, 'संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः' इस अर्द्धश्लोकके द्वारा पञ्चमाध्यायमें तात्पर्य निकाला गया है। इसके अनन्तर 'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' इस वचनके द्वारा 'फल' विचारसे संन्यासपथ और कर्मपथ दोनोंकी एकता भी की गई थी। अब फलाकांक्षा त्यागके विचारसे इन दोनों श्लोकोंके द्वारा संन्यास तथा योगकी एकता बताते हैं। नीरे कर्मत्याग या अग्निहोत्रादि नित्यनैमित्तिक कर्मोंके त्यागसे संन्यास नहीं होता है, क्योंकि भीतर प्रकृतिका वेग जबतक है, तबतक ऊपरसे कर्मत्याग करनेपर यथार्थमें त्याग नहीं होता है, केवल मनुष्य 'मिथ्याचारी' ही बन जाता है। इसलिये चाहे ज्ञानमार्गका आश्रय करे या कर्ममार्गका फलाकांक्षारहित होकर कर्म करनेकी दोनोंहीमें आवश्यकता रहती है। इनमेंसे ज्ञानयोगी निष्कामकर्म द्वारा चित्तशुद्धिके बाद कर्मका आश्रय कम लेते हैं तथा आत्मानात्म विवेक द्वारा समाधिस्थ होते हैं और कर्मयोगीको अन्ततक साधनारूपसे कर्मयोगका ही अवलम्बन रहता है, इतना ही भेद है। किन्तु फलाकांक्षारहित होकर कर्म करनेकी आवश्यकता दोनोंको पड़ती है। अतः दोनों योगोंमें 'संकल्पत्याग'का

भाव ही मुख्य है, और इसी भावमुख्यताको लेकर श्रीभगवान्ने संन्यास तथा योगकी एकता बताई है। जबरदस्ती कर्त्तव्य कर्मोंको छोड़कर निश्चेष्ट बैठे रहनेको संन्यासीका लक्षण नहीं बताया है। यही इन दोनों श्लोकोंका निष्कर्ष है ॥ १-२ ॥

अब इस योगमें क्रमोन्नति तथा सिद्धिके कारण बता रहे हैं—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

अन्वय—योगं आरुरुक्षोः मुनेः (योगमार्गमें चढ़नेकी इच्छा रखनेवाले मुनिके लिये) कर्म (निष्काम कर्म) कारणं उच्यते (साधन कहलाता है), योगारूढस्य तस्य एव (योगमें आरूढ़ उन्हींके लिये) शमः (प्राकृतिक वेग तथा चाञ्चल्यकी शमता) कारणं उच्यते (साधन कहलाती है)। यदा हि (जिस अवस्थामें) न इन्द्रियार्थेषु (न इन्द्रियोंके विषयोंमें) न कर्मसु (और न कर्मोंमें) अनुषज्जते (योगी आसक्त होता है) तदा (तब) सर्वसंकल्पसंन्यासी (समस्त संकल्पोंका त्यागनेवाला) योगारूढः उच्यते (योगमें आरूढ़ कहलाता है)।

सरलार्थ—योगमार्गमें आरोहण करनेका उपाय निष्काम कर्म है और इसमें प्रतिष्ठित होकर सिद्धिलाभ करनेका उपाय प्राकृतिक वृत्तियोंकी शमता है। जिस समय योगी न इन्द्रियों-

के विषयोंमें ही फंसता है और न फलाकांक्षा द्वारा कर्ममें, तभी सकल संकल्पहीन वह योगी योगारूढ़ अर्थात् योगसिद्ध कहलाता है ।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें कर्मयोगकी साधना तथा उसमें सिद्धिलाभके उपाय बताये गये हैं । आत्मामें युक्त होकर निष्कामभावसे कर्म करते करते योगी योगमार्गमें क्रमशः उन्नत होने लगता है । वासना ही चाञ्चल्यका कारण है, इसलिये निष्काम कर्मयोगमें रत योगीकी वासना निष्कामभावके द्वारा ज्यों ज्यों नष्ट होने लगती है त्यों त्यों उनके शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि सभीके चाञ्चल्य नष्ट होकर योगीको परम शमभावकी प्राप्ति होने लगती है । शमभावप्राप्त योगी आत्मामें विशेष प्रतिष्ठालाभ करते हैं और इस प्रतिष्ठाकी पूर्णता ही योगारूढ़ अवस्था है । अतः शमभाव ही योगारूढ़ अवस्थाका कारण हुआ, जैसा कि, दूसरे श्लोकमें लक्षण बताया गया है । उस समय योगसिद्ध पुरुषकी न इन्द्रियविषयमें ही आसक्ति रहती है और न कर्मके फलभोगमें । वे सकल सकामसंकल्पको त्याग कर स्वरूपप्रतिष्ठित तथा आत्माराम हो जाते हैं । यही कर्मयोगीकी अपूर्व योगारूढ़ स्थिति है ॥ २–४ ॥

अब उपासनायोगकी सहायतासे इसी अनुत्तमा स्थितिलाभके लिये क्रमशः उपदेश करते हैं—

> उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
> आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥
> बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना जितः ।
> अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

अन्वय—आत्मना आत्मानं उद्धरेत् (अपने ही द्वारा अपना उद्धार करना चाहिये) आत्मानं (अपनेको) न अवसादयेत् (नीचे नहीं गिरने देना चाहिये), हि (क्योंकि) आत्मा एव (आत्मा ही) आत्मनः बन्धुः (आत्माका बन्धु है), आत्मा एव (आत्मा ही) आत्मनः रिपुः (आत्माका शत्रु है)। येन आत्मना एव (जिस आत्माके द्वारा) आत्मा जितः (आत्मा वशीभूत हुआ है) तस्य आत्मनः (उस आत्माका) आत्मा बन्धुः (आत्मा बन्धु है), तु (किन्तु) अनात्मनः (अवशीभूत आत्माके) शत्रुत्वे (शत्रुभावमें) आत्मा एव (आत्मा ही) शत्रुवत् (शत्रु जैसे) वर्त्तेत (प्रवृत्त रहता है)।

सरलार्थ—मनुष्योंको अपना उद्धार आप ही करना चाहिये, कदापि अपनी अधोगति नहीं करानी चाहिये। क्योंकि आत्मा ही आत्माका बन्धु और आत्मा ही आत्माका शत्रु है। जिसने अपने आपको वशीभूत कर लिया है उसका आत्मा अपना बन्धु है, जिसने ऐसा नहीं किया उसका आत्मा शत्रुकी तरह उसके अपकारमें ही प्रवृत्त रहता है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें दुर्लभ मनुष्यजन्मको पाकर आत्मोद्धारकी विशेष आवश्यकताकी ओर ध्यान दिलाया गया है। श्रुतिमें लिखा है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

दुर्लभ मानवजन्मको पाकर यदि आत्माको जान लिया तभी जन्म लेना सत्य है, नहीं तो मनुष्यजन्म धारण ही नष्ट हुआ जानना चाहिये। धीर योगीगण घट घटमें आत्माका अनुभव करके मरणानन्तर अमृतत्वका लाभ करते हैं। इन श्लोकोंमें इसी वेदमन्त्रकी प्रतिध्वनि की गई है। आत्मा ही आत्माका बन्धु है, संसारके बन्धुजन अतिप्रिय होने पर भी स्नेह ममता पासमें बांधनेके कारण सच्चे बन्धु नहीं होते। आत्मा ही सच्चा बन्धु है, क्योंकि इसी बन्धुके द्वारा ही मनुष्य दुस्तर संसार-समुद्रको तर सकता है। किन्तु जिसके आत्माने उसे तरनेमें सहायता न दी, उलटा संसारसमुद्रके भंवरमें और भी फंसा दिया, वह आत्मा उसका बन्धु न होकर शत्रु है। बाहिरी शत्रु भी आत्माके कारण हीं शत्रु है क्योंकि शत्रु मित्र सभीका प्रेरक भीतरी आत्मा ही है। इसी कारण दूसरे श्लोकमें कहा गया है कि वशीभूत संयत विवेकी आत्मा ही बन्धु है और कुमार्गमें लेजानेवाला असंयत आत्मा जीवका शत्रु है ॥ ५-६ ॥

अब आत्माके वशीभूत होने पर ही योगी योगारूढ़ हो सकता है इसी तत्त्वको बता रहे हैं—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥
सुहृन्मित्रार्य्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

अन्वय—जितात्मनः प्रशान्तस्य (जितेन्द्रिय रागादि

विक्षेपहीन योगीका) परमात्मा (स्वरूप प्रतिष्ठित योगारूढ़ आत्मा) शीतोष्णसुखदुःखेषु (शीत उष्ण, सुखदुःखरूपी द्वन्द्वोंमें) तथा मानापमानयोः (और मान अपमान आदि विरुद्ध भावोंमें) समाहितः (समभावापन्न रहता है)। ज्ञान-विज्ञानतृप्तात्मा (शास्त्रज्ञान तथा विज्ञान अर्थात् अनुभवके द्वारा जिसका आत्मा तृप्त हो चुका है) कूटस्थः (विषयके पास रहने पर भी विकाररहित निर्लिप्त) विजितेन्द्रियः (विशेषरूपसे जिसने इन्द्रियोंको जीत लिया है) समलोष्टाश्मकाञ्चनः (मिट्टी पत्थर और सोनेको अभिन्न भावसे जो देखता है) योगी (ऐसा योगी) युक्तः इति उच्यते (योगारूढ़ कहलाता है)। सुहृत् (प्रत्युपकारकी अपेक्षा न रखता हुआ उपकार करनेवाला) मित्रं (स्नेहवश उपकारी) अरिः (शत्रु) उदासीनः (दोनोंको झगड़ते देख कर भी उपेक्षा करनेवाला) मध्यस्थः (परस्पर विरुद्ध दोनों पक्षोंका हितैषी) द्वेष्यः (आत्माका अप्रिय) बन्धुः (सम्बन्धके कारण उपकारी) एषु (इन सबमें) साधुषु (सदाचारी पुरुषोंमें) पापेषु च अपि (और दुराचार पुरुषोंमें भी) समबुद्धिः (रागद्वेषशून्य समभावमें ।युक्त योगारूढ़ पुरुष) विशिष्यते (विशिष्ट कोटिके हैं)।

सरलार्थ—जितेन्द्रिय, रागादिविक्षेपरहित शान्त योगीका योगारूढ़ आत्मा शीत उष्ण, सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंमें तथा मान अपमान आदि विरुद्ध भावोंमें समभावापन्न रहता

है। शास्त्रज्ञान तथा अनुभवके द्वारा तृप्तात्मा, विषयके समीप रहने पर भी निर्लिप्त उदासीन, जितेन्द्रिय तथा मिट्टी पत्थर सोनेमें अभिन्नदृष्टि योगी योगारूढ़ कहलाते हैं। इस प्रकारके सुहृत्—मित्र—शत्रु—उदासीन—मध्यस्थ—द्वेषपात्र-वन्धु—साधु-असाधुमें रागद्वेषहीन एक ही भाव रखनेवाले योगारूढ़ पुरुष अति उत्तमकोटिके महात्मा हैं।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें योगारूढ़ पुरुषकी महिमा तथा उत्तमा स्थिति बताई गई है, वे जितेन्द्रिय होते हैं, द्वन्द्वोंमें विकल न होकर शान्त रहते हैं, मानापमानमें एक भावापन्न रहते हैं और इनका आत्मा ज्ञानमय स्वरूपमें प्रतिष्ठित होकर परमात्मासे अभिन्न हो जाता है। महाभारतमें जो लिखा है कि—

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः॥

अर्थात् प्रकृतिके गुणोंसे युक्त आत्मा क्षेत्रज्ञ कहलाता है और गुणोंसे मुक्त होते ही वह परमात्मा हो जाता है, यही स्थिति योगारूढ़ योगीके आत्माकी है। इनका ज्ञान केवल शब्दज्ञान मात्र नहीं है किन्तु विज्ञान अर्थात् आत्मानुभवमें भी वे पूर्ण होकर आध्यात्मिक तृप्ति लाभ करते हैं, विषयके सामने भी वे कूटस्थ अर्थात् निर्विकार उदासीन बने रहते हैं और पाषाण या सुवर्णमें हेय या उपादेय बुद्धि न रखनेके कारण अभेद तथा अनासक्त चित्तसे दोनोंको ही देखते हैं। उनके लिये न सोनेमें ही रमणीयता है और न मिट्टीमें ही हेयता है। इस प्रकार वे न साधु, मित्र आदिमें ही प्रेम द्वारा आसक्त होते हैं और न असाधु शत्रु आदिमें

ही द्वेष द्वारा रूठ जाते हैं। वे अद्वितीय आत्माकी धारणासे सभीमें अभिन्न भावापन्न रहते हुए केवल लौकिक व्यवहारमें आत्माके विकाश तारतम्यको ही काममें लाते हैं और उसीके अनुसार लौकिक वर्त्तावमें गुणागुणका तारतम्य रहता है। किन्तु उस गुणागुणका कोई भी प्रभाव उनके आत्मा तथा अन्तःकरण पर नहीं पड़ता है। केवल लौकिकमें ही उनका विकाश रहता है। यही सब योगारूढ़ योगीकी अनुपम स्थिति है॥ ७–९ ॥

इस स्थितिलाभके लिये क्रियायोग बता रहे हैं—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १० ॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेंद्रियक्रियः।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ १२ ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३ ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४ ॥

अन्वय—योगी (उपासनायोगी) रहसि स्थितः (एकान्तमें स्थित होकर) एकाकी (सङ्गशून्य) यतचित्तात्मा (संयतमन संयतशरीर) निराशीः (तृष्णाशून्य) अपरिग्रहः (योगविघ्नरूपी परिग्रहको न करता हुआ) सततं (सदा)

आत्मानं युञ्जीत (मनको योगमें लगावे) शुचौ देशे (पवित्र स्थानमें) आत्मनः (अपना) स्थिरं (निश्चल) न अत्युच्छ्रितं (न बहुत ऊंचा) न अतिनीचं (न बहुत नीचा) चेलाजिनकुशोत्तरं आसनं (जिसमें चेल अर्थात् रेशमी आदि मृदुवस्त्र, अजिन अर्थात् मृगादि चर्म कुशाके ऊपर हो ऐसे आसनको) प्रतिष्ठाप्य (स्थापित करके) तत्र (उस आसनमें) उपविश्य (बैठ कर) मनः एकाग्रं कृत्वा (मनको एकाग्र करके) यतचित्तेन्द्रियः (मन और इन्द्रियोंको संयत करते हुए) आत्मविशुद्धये (चित्तको विक्षेपशून्य करके आत्मामें लगानेके लिये) योगं युञ्ज्यात् (योगका अभ्यास करे)। कायशिरोग्रीवं (शरीर मस्तक और गलेको) समं (अवक्र, सीधा) अचलं (निश्चल) धारयन् (रख कर) स्थिरः (स्थिर होकर) स्वं नासिकाग्रं संप्रेक्ष्य (अपने नासिकाग्रको देखता हुआ) दिशः च अनवलोकयन् (किसी दूसरी ओर न देखता हुआ) प्रशान्तात्मा (शान्तमना) विगतभीः (निर्भय) ब्रह्मचारिव्रते स्थितः (वीर्यसंयमादि ब्रह्मचर्यव्रतमें स्थित) मनः संयम्य (मनका संयम करके अर्थात् विषयोंसे उसका प्रत्याहार करके) मच्चित्तः (परमात्मामें मनकी धारणा करके) मत्परः (परमात्माको ही सर्वस्व समझ कर उसीमें रत होकर) युक्त आसीत (योगयुक्त हो जाना चाहिये)।

सरलार्थ—योगी एकान्तमें एकाकी रह कर मन तथा शरीरको संयत करते हुए तृष्णाशून्य और परिग्रहशून्य हो

सदा योगमें मनको लगानेका अभ्यास करे। किसी पवित्र स्थानमें अपने आसनको जमावें जो कि, न बहुत ऊंचा हो और न बहुत नीचा तथा कुशा, उसके ऊपर मृग या व्याघ्रचर्म और उसके ऊपर रेशमी वस्त्र इस प्रकारका हो। ऐसे आसनोंमें बैठ कर मन तथा इन्द्रियोंको संयत करके एकाग्रचित्त हो चित्तवृत्ति निरोधके अर्थ योगाभ्यास करे। शरीर मस्तक और गलेको सीधे तथा निश्चल रख कर अन्य किसी ओर दृष्टि न देकर केवल नासाग्रको देखते हुए, शान्त, निर्भय, ब्रह्मचारी, संयतमना परमात्मामें ही एकाग्रचित्त हो तथा परमात्माको ही परम आश्रय समझ कर योगयुक्त हो जावें।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें यम नियमादि क्रमसे अष्टाङ्गयोगकी संक्षिप्त प्रक्रिया बताई गई है। बिना एकान्तके योगमें विक्षेप हो जाता है और अपवित्र स्थानमें भी मन पवित्र नहीं रह सकता है, इस कारण एकान्त तथा पवित्र गङ्गातट, गिरिगुहा आदि स्थानमें एकाकी सङ्गशून्य रहकर योगाभ्यास करनेका उपदेश किया गया है। लेनेदेनका सम्बन्ध रखनेसे झगड़ा ही बढ़ता है इसलिये योगीको 'अपरिग्रह' होनेका उपदेश दिया गया है। इस तरहसे 'यतचित्तात्मा' होकर अन्तरिन्द्रिय बहिरिन्द्रियोंको रोके रहना, तृष्णा तथा परिग्रहशून्य होना, ब्रह्मचर्य तथा शौचसे युक्त होना—ये सब यमनियमकी साधनाएं हैं। यमनियमके बाद आसन है। योगशास्त्रमें 'स्थिरसुखमासनम्' अर्थात् जिसमें स्थिरसे तथा सुखसे साधनाके लिये बैठा जा सके उसीको आसन कहा है। आसनमें सबसे नीचे कुशा, उसके ऊपर मृग या व्याघ्रचर्म और उसके ऊपर रेशमी

आदि पतला वस्त्र होना चाहिये, । ये सभी चीजें यौगिक विद्युत्शक्तिको रोके रहती हैं, जिससे योगीका चित्त चञ्चल नहीं होने पाता है, इसी कारण ऐसा आसन-प्रयोग शास्त्रमें बताया गया है। आसनमें बैठकर योग करते समय शरीर मस्तक ग्रीवाको सीधा रखना होता है क्योंकि मुला-धारसे मस्तकदेशपर्यन्त मेरुदण्डको सीधा न रखनेसे सुषुम्नाकी क्रियाएं षटचक्रभेदनादि तथा कुण्डलिनी जागरणादि ठीक ठीक नहीं हो सकती हैं जिसका रहस्य गुरुमुखसे जानने योग्य है। श्लोकमें 'नासिकाग्र' शब्दका अर्थ नाकके ऊपरका अग्रभाग अर्थात् भ्रूमध्यस्थान है जैसा कि 'चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः' पदके द्वारा पहिले ही बताया गया है। उसमें 'संप्रेक्ष्य' शब्दसे ठीक देखना अर्थ नहीं लेना चाहिये क्योंकि वहां देखते रहनेसे मन भी वहीं रहेगा जिससे आत्मामें मनःसंयोग नहीं होगा। इसलिये अर्द्धनिमीलितनेत्र होकर दोनों भौंहों-के बीचमें विक्षेपरहित भाव लानेका नाम नासिकाग्र देखना है ऐसा सम-झना चाहिये। इसके बाद 'मनः संयम्य' शब्दके द्वारा प्रत्याहारकी क्रिया और 'मच्चित्त' शब्दके द्वारा ध्यानक्रियाकी ओर इङ्गित किया गया है। इस प्रकारसे अष्टाङ्गयोगकी सहायतासे अन्तःकरणको आत्मामें युक्त करना चाहिये यही योगाभ्यास है। योगदर्शनमें 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' अर्थात् चित्तकी सकल प्रकार वृत्तियोंको निरुद्ध कर देनेका नाम योग कहा गया है। चित्तकी पांच भूमियां होती हैं। यथा—मूढ़, क्षिप्त, वि-क्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। चित्तकी तामसिक भूमि जिसमें बेलगाम घोड़ेकी तरह जिधर तिधर चित्त भटकता रहे मूढ़ भूमि कहलाती है। चित्तकी राजसिक भूमि जिसमें लगाम सहित घोड़ेकी तरह एकही ओर चित्त चञ्चल रहे क्षिप्त भूमि कहलाती है। चित्तकी सात्त्विक भूमि

जिसमें कभी चित्त वृत्तिहीन तथा सूनासा हो जाता है जिससे विशिष्ट विक्षिप्त भूमि कहलाती है। इसके अनन्तर योगभूमिमें आकर प्रथमतः चित्तको ध्येयमें एकाग्र किया जाता है। इस दशामे ध्याता, ध्यान, ध्येयरूपी त्रिपुटि रहती है। चित्तकी अन्तिम अर्थात् निरुद्ध दशामें त्रिपुटिका लय हो जाता है, यही चित्तवृत्ति निरोधरूपी योग या समाधि-दशा है। और इसीमें आनन्दमय आत्माका अनुभव योगीको हो जाता है। योगाभ्यासमें रत होकर इसी उत्तम अवस्था तक पहुंच जाना ही क्रियायोगका लक्ष्य है, जिसके लिये श्रीभगवान्‌ने इन श्लोकों द्वारा उपदेश किया है॥ १०–१४॥

योगकी साधना कह कर अब योगका फल बताते हैं—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

अन्वय—एवं (इस प्रकारसे) सदा (सब समय) आत्मानं युञ्जन् (अन्तःकरणको योगयुक्त करके) नियतमानसः (संयत-मना) योगी (योगी) निर्वाणपरमां (जिसके अन्तमें निर्वाण मोक्ष हो ऐसी) मत्संस्थां (मेरे स्वरूपमें रहने वाली) शान्तिं (शान्तिको) अधिगच्छति (पाते हैं)।

सरलार्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा योगयुक्त होकर संयतचित्त योगी आनन्दमय परमात्मामें स्थित उस शान्तिको पाते हैं जिसकी अन्तिम निष्ठा निर्वाण मुक्ति है।

चन्द्रिका—मनको संयत करके सकल प्रकार वृत्तियोंका निरोध तथा परमात्मामें मनोलय करते करते अन्तमें योगसिद्ध पुरुष आनन्दमय

ब्रह्मके अनन्त आनन्द तथा अनन्त शान्तिको प्राप्त कर लेते हैं। यही उनकी समाधिकी शान्ति है और इसीकी अन्तिम अवस्था निर्वाणमुक्ति है ॥ १५ ॥

अब योगपथमें निर्विघ्न उन्नति लाभार्थ कुछ आवश्यक उपायोंका निर्देश कर रहे हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

अन्वय—हे अर्जुन ! (हे अर्जुन !) अत्यश्नतः (पचानेकी शक्तिसे अधिक भोजन करनेवालेका) तु योगः न अस्ति (योगमें सिद्धिलाभ नहीं होता है) न च एकान्तं अनश्नतः (और एकदम अनाहारी या अति अल्पाहारीका भी योगमें सिद्धलाभ नहीं होता है) न अतिस्वप्नशीलस्य (प्रयोजनसे अधिक निद्रा लेनेवालेका नहीं) न च एव जाग्रतः (और एकबारगी ही निद्रा न लेनेवालेका भी नहीं)। युक्ताहारविहारस्य (नियमित आहार तथा विहार करनेवालेका) कर्मसु युक्तचेष्टस्य (कर्मोंमें नियमित चेष्टावालेका) युक्तस्वप्नावबोधस्य (नियमित सोने जागनेवालेका) योगः दुःखहा भवति (योग दुःखनाशक तथा सुखदायी होता है)।

सरलार्थ—हे अर्जुन ! जो परिमाणसे अधिक भोजन करता है अथवा एकबारगी ही अनाहार या अत्यन्त अल्पा-

हार रहता है उसको योगमें सिद्धि नहीं मिलती है। उसी प्रकार प्रयोजनसे अत्यधिक निद्रा लेनेवाले अथवा एकदम निद्रा त्यागनेवालेको भी योगसिद्धि नहीं मिलती है। नियमित आहार विहार तथा कर्ममें रत और नियमित निद्रा तथा जागरणशील पुरुषका ही योग दुःखनाशकर तथा सुखकर होता है।

चन्द्रिका—जब योगका लक्ष्य ही यह है कि प्रकृतिके समस्त वैषम्यका नाश करके योगीको साम्यभावद्वारा सम-ब्रह्ममें पहुंचा देवे, तो आहार विहार रहन सहन किसीमें भी किसी प्रकारकी विषमताको योग सहन नहीं कर सकता है। अधिक आहार करना, या निराहार रह जाना, अधिक निद्रा लेना या निद्राहीन ही रहना इत्यादि नियमके विरुद्ध सभी व्यापारोंसे प्रकृतिकी समता नष्ट होती है, जिससे योगमें सिद्धि-लाभ असम्भव हो जाता है। इसलिये युक्ताहार विहारादि ही योग-सिद्धिके मुख्य मन्त्र हैं। युक्ताहार या मिताहारके लक्षण पहिले ही बताये जा चुके हैं। शतपथ ब्राह्मणमें भी लिखा है—'यद्वुह वा आत्म-सम्मितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति, यद्भूयो हिनस्ति तद् यत् कनीयो न तदवति' मित भोजनसे ही उपकार होता है, मितसे अधिक या कम भोजन द्वारा हानि होती है। निराहार रहना या निद्राहीन रहना ये सब योगसाधनके अन्तर्गत न होनेपर भी तपश्चरणके अन्तर्गत अवश्य हैं, जिनके सकाम अनुष्ठानसे जन्मान्तरमें इन भोगोंकी अधिक प्राप्ति और निष्काम अनुष्ठानसे पापनाश तथा चित्त शुद्धि हो सकती है॥ १६–१७॥

साधनोपाय बता कर अब योगयुक्त पुरुषके कुछ लक्षण बता रहे हैं—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥१९॥

अन्वय—यदा (जब) विनियतं चित्तं (सुसंयत चित्त) आत्मनि एव (विषयोंको छोड़कर आत्मामें ही) अवतिष्ठते (ठहर जाता है) तदा (तब) सर्वकामेभ्यः निस्पृहः (समस्त दृष्टादृष्ट काम्य विषयोंके प्रति तृष्णाहीन योगी) युक्तः इति उच्यते (योग पदवीपर प्रतिष्ठित कहलाता है)। यथा (जिस प्रकार) निवातस्थः दीपः (वायुप्रवाहशून्य स्थानमें प्रदीप) न इङ्गते (चञ्चल नहीं होता है), आत्मनः योगं युञ्जतः (आत्माके विषयमें योग लगानेवाले) यतचित्तस्य योगिनः (संयतचित्त योगीका) सा उपमा स्मृता (वही उपमा समझनी चाहिये।

सरलार्थ—जिस समय योगीका सुसंयत चित्त बाह्य-विषयोंको छोड़कर आत्माहीमें निविष्ट हो जाता है, उस समय दृष्टादृष्ट समस्त कामनाहीन वे योगी 'युक्त' कहलाते हैं। ऐसे आत्मयोगयुक्त संयतचित्त योगीके निश्चल चित्तकी उपमा वायुप्रवाहहीन स्थानमें स्थित निश्चल प्रदीप शिखाके साथ दी जाती है।

चन्द्रिका—बाहिरी विषय ही मनुष्यके चित्तको चञ्चल करके आत्माके पथसे उसे दूर ले जाता है। किन्तु जिस समय इहलोक पर-लोकके समस्त विषयोंके प्रति वैराग्यसम्पन्न होकर योगी अभ्यासमें रत हो जाते हैं उस समय आत्मामें निविष्ट उनका चित्त पुनः विषयमें प्रवृत्त न होकर आत्मामें ही निश्चल रूपसे ठहर जाता है। और तब ऐसे पूर्णवैराग्यसम्पन्न विषयलवलेशहीन आत्मरत योगी ही 'युक्त' अर्थात् योग पदवी पर प्रतिष्ठित कहलाते हैं ॥ १८-१९ ॥

इस 'युक्त' अवस्थामें क्या क्या लाभ होता है सो बताते हैं—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥
सङ्कल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेंद्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

अन्वय—यत्र (जिस अवस्थामें) योगसेवया निरुद्धं चित्तं (योगाभ्यासके द्वारा वृत्तिशून्य चित्त) उपरमते (आत्मासे अतिरिक्त समस्त विषयोंसे उपरत हो जाता है), यत्र

च (और जिस अवस्थामें) आत्मना (समाधिशुद्ध अन्तः-करणके द्वारा) आत्मानं पश्यन् (आत्माका अनुभव करके) आत्मनि एव तुष्यति (आत्मामें ही परमतृप्ति लाभ करता है) यत्र (जिस अवस्थामें) यत्तत् (एक अपूर्व प्रकारके) बुद्धि-ग्राह्यं (सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा अनुभव योग्य) अतीन्द्रियं (इन्द्रियोंके अगोचर) आत्यन्तिकं (अनन्त) सुखं वेत्ति आनन्दको योगी अनुभव करता है), यत्र च एव स्थितः (जिस अवस्थामें स्थित होने पर) अयं (योगी) तत्त्वतः (आत्मस्वरूपसे) न चलति (विचलित नहीं होता है)। यं च लब्ध्वा (जिस आत्मलाभको पाकर) अपरं लाभं (और किसी लाभको) ततः अधिकं न मन्यते (उससे अधिक नहीं समझता है), यस्मिन् स्थितः (जिस आत्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेसे) गुरुणा अपि दुःखेन (प्रारब्धानुसार प्राप्त किसी कठिन दुःखके द्वारा भी) न विचाल्यते (विचलित नहीं होता है), दुःखसंयोगवियोगं तं (दुःखसंस्पर्शशून्य उस अवस्था-को) योगसंज्ञितं विद्यात् (योगशब्दवाच्य जानना चाहिये), सः योगः (ऐसा योग) अनिर्विण्णचेतसा (अनलसचित्त हो-कर) संकल्पप्रभवान् (मानसिक संकल्पविकल्पसे उत्पन्न) सर्वान् कामान् (समस्त कामनाओंको) अशेषतः त्यक्त्वा (निःशेषरूपसे परित्याग करके) मनसा (मनके बलसे) समन्ततः (चारों ओरसे) इन्द्रिय ग्रामं विनियम्य (इन्द्रियसमूहका निग्रह करके) निश्चयेन योक्तव्यः (अवश्य ही अभ्यास करना चाहिये)।

सरलार्थ—युक्तपुरुषकी जिस उन्नत अवस्थामें उनका अन्तःकरण योगाभ्यासद्वारा निरुद्ध होकर प्रपञ्चसे उपराम हो जाता है, जिस अवस्थामें समाधिशुद्ध अन्तःकरणके द्वारा आत्मसाक्षात्कार करके वे तृप्त हो जाते हैं, जिस अवस्थामें एक अपूर्व अतीन्द्रिय सूक्ष्म बुद्धिगम्य असीम आनन्दको पाकर वे तत्त्वपदसे कुछ भी विचलित नहीं होते, जिस लाभको पाकर और कोई भी लाभ उससे अधिक नहीं प्रतीत होता है, जिसमें प्रतिष्ठित होने पर प्रारब्धवश प्राप्त कठिन दुःखमें भी योगी विचलित नहीं होते हैं, दुःखसंयोगसे शून्य उस उत्तम अवस्थाको योगावस्था समझनी चाहिये। मुमुक्षुका कर्त्तव्य है कि अनलसचित्त होकर मनकी निखिल वासनाओंको त्याग करके मनोबल द्वारा चारों ओरसे इन्द्रियोंको खींचकर निश्चय ही इस उत्तम योगका अभ्यास करे।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें योगसिद्ध स्वरूपस्थित पुरुषकी नित्यानन्दमयी अनुपम दशाका वर्णन करके योगाभ्यासकी ओर मुमुक्षुकी दृष्टि आकृष्ट की गई है। योगकी सिद्धि दशामें योगीका निर्मल अन्तःकरण आत्मामें लवलीन होकर असीम आनन्दका उपभोग करता है। यह आत्मानन्द इन्द्रियोंसे अतीत तथा सूक्ष्मबुद्धि गम्य है यथा श्रुतिमें 'दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' अतीन्द्रिय सूक्ष्म अलौकिक बुद्धिके द्वारा ही आनन्दमय आत्माका साक्षात्कार हो सकता है। इस स्थितिका लाभ करनेसे योगी इसे ही सर्वोत्तम लाभ समझते हैं क्योंकि अनन्तआनन्दमय, अनन्तज्ञानमय, अनन्तशक्तिमय आत्माका लाभ हो

जानेमे और बाकी क्या रह गया ? इस दशामें प्रारब्धवश यदि कोई कठिन दुःख भी आपड़े तो भी उसे शरीरधर्म या मनोधर्म समझ कर देहादिसे परे आत्मामें विराजमान योगी कुछ भी विचलित नहीं होते हैं, अनात्मीय विकारादि उनके आत्मानन्दपर कुछ भी धक्का नहीं दे सकते हैं । यही अत्युत्तम, अनुपम, अलौकिक योगसिद्ध, योगारूढ़ या स्वरूपावस्था है, जिसके लिये दुर्लभ मनुष्यजन्म पाकर अनलस होकर प्रयत्न करना प्रत्येक जीवका कर्त्तव्य है ॥ २०–२४ ॥

अब प्रसङ्गानुसार पुनरपि साधनोपाय तथा सिद्धिदशाका वर्णन करते हैं—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥
यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥ ३१ ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ! ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

अन्वय—धृतिगृहीतया बुद्ध्या (धैर्य्यसे युक्त बुद्धिके द्वारा) शनैः शनैः (धीरे धीरे) उपरमेत् (प्रपञ्चसे मनको खींच लेवे), मनः (मनको) आत्मसंस्थं कृत्वा (आत्मामें ठहराकर) न किञ्चिदपि चिन्तयेत् (और कुछ भी चिन्ता न करें)। चञ्चलं (स्वभावतः चपल) अस्थिरं मनः (इसलिये स्थिरताहीन मन) यतः यतः (जिन जिन कारणोंसे) निश्चलति (विषयोंके प्रति भागता है) ततः ततः (उन उन रूप रसादि कारणोंसे) एतत् नियम्य (मनको रोककर) आत्मनि एव (केवल आत्मामें ही) वशं नयेत् (लगा देवे)। शान्तरजसं (रजोगुणजन्य चाञ्चल्यसे रहित) प्रशान्तमनसं (अतः प्रशान्तचित्त) अकल्मषं (पापहीन, धर्माधर्मादि वर्जित) ब्रह्मभूतं एनं योगिनं हि (ब्रह्ममें विलीन ब्रह्मस्वरूप ऐसे योगीको ही) उत्तमं सुखं उपैति (अनुपम ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है)। एवं (इस प्रकारसे) सदा आत्मानं युञ्जन् (सदा मनको आत्मामें लगाकर) विगतकल्मषः योगी (निष्पाप योगी) सुखेन (अनायास ही) ब्रह्मसंस्पर्शं अत्यन्तं सुखं (आत्माके संस्पर्शसे उत्पन्न निरतिशय सुखको) अश्नुते (लाभ करता है)। योगयुक्तात्मा (योगमें युक्तचित्त) सर्वत्र समदर्शनः

(आत्माके अद्वैतताज्ञानसे सर्वत्र समदर्शी योगी) आत्मानं सर्वभूतस्थं (अपने आत्माको सकल भूतोंमें) सर्वभूतानि च आत्मनि (तथा सकल भूतोंको आत्मामें) ईक्षते (देखता है) यः (जो) मां (परमात्मारूपी मुझको) सर्वत्र (सकल भूतोंमें) पश्यति (देखता है), मयि च सर्वं पश्यति (और मुझमें सकल भूतोंको देखता है) तस्य अहं न प्रणश्यामि (मैं उसके लिये अदृश्य नहीं होता हूँ) स च मे न प्रणश्यति (और वह भी मुझसे परोक्ष नहीं रहता है)। यः (जो योगी) सर्वभूतस्थितं मां (सकल भूतोंमें स्थित मुझको) एकं आस्थितः भजति (अभेद भावसे भजन करता है) सर्वथा अपि वर्त्तमानः (जिस किसी अवस्थामें रहनेपर भी) सः योगी मयि वर्त्तते (वह योगी मुझमें अर्थात् ब्रह्मभावमें ही रहता है)। हे अर्जुन ! (हे अर्जुन !) यः सर्वत्र (जो योगी सकल भूतोंमें) सुखं वा यदि वा दुःखं (सुख या दुःख दोनोंको ही) आत्मौपम्येन समं पश्यति (अपने आत्माके सादृश्य विचारसे तुल्यरूपमें देखता है) सः योगी परमः मतः (वही योगी श्रेष्ठ है)।

सरलार्थ—धीरतासे युक्त बुद्धिके द्वारा गुरूपदिष्ट मार्गानुसार क्रमशः योगीको प्रपञ्चसे उपराम होना चाहिये और आत्मामें मनको लगाकर और कुछ भी नहीं चिन्ता करनी चाहिये। स्वभावतः चञ्चल मन अस्थिर होकर जहां जहां भागने लगे, उन रूप रसादि चाञ्चल्य कारणोंसे मनको

रोककर आत्मामें ही वशीभूत कर देना चाहिये। इस प्रकारसे मनके शान्त तथा रजोगुणरहित होनेपर ब्रह्मस्वरूपमें स्थित, धर्माधर्मवर्जित योगीको असीम आनन्दकी प्राप्ति होती है। वे योगयुक्त मनको आत्मामें डुबाकर सदा असीम अनुपम ब्रह्मानन्दका ही उपभोग करते रहते हैं। उस समय स्वरूपस्थित योगीको अपना आत्मा सकल भूतोंमें और सकल भूतोंका आत्मा अपनेमें अभिन्न भावसे दीखने लगता है। जो इस प्रकार मुझे सर्वत्र और मुझमें सबको आत्माके अद्वैत अनुभवके विचारसे देखते हैं, ऐसे योगी न कभी मुझसे ही बिछुड़ते हैं और न कभी मैं उनसे बिछुड़ता हूँ। सकल भूतोंमें व्याप्त परमात्मारूपी मुझको जो इस प्रकार अभेद बुद्धिके साथ भजन करते हैं, वे चाहे किसी अवस्थामें क्यों न हों, मुझमें ही सदा रहते हैं। हे अर्जुन! जैसा अपनेको सुख दुःख है ऐसा दूसरेको भी है, इस विचारसे अपने आत्माके साथ तुलना करके जो सर्वत्र समदर्शी तथा सबके सुख चाहनेवाले होते हैं, वे ही योगी उत्तम हैं ऐसा जानना चाहिये।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें कुछ साधनोपाय तथा सिद्धावस्थाका अलौकिक अनुभव बताया गया है। साधन दशामें वैषयिक वृत्तियोंका निरोध धीरे धीरे करना चाहिये, क्योंकि जन्मजन्मान्तरके संस्कारों द्वारा पुष्ट वृत्तियोंको एकदम रोकनेकी चेष्टा करनेसे कदाचित् उल्टी प्रतिक्रिया हो सकती है। इसलिये 'शनैः शनैः उपराम' होनेका उपदेश

दिया गया है। बुद्धिके साथ धृतिकी सहायता रहनेसे तभी वृत्तिदमन स्थायी हो सकता है, क्योंकि विचार द्वारा अच्छे बुरेका पता लग जानेपर भी जबतक धैर्य्य न हो, साधक उसमें जमकर नहीं रह सकता है। श्रीभगवान्‌ने सात्त्विकी धृतिका लक्षण आगे भी कहा है यथा—

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ! सात्त्विकी॥

जिस धृतिके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंको योगी निश्चितरूपसे रोक सकें, वही सात्त्विकी धृति है। इसी धृतिसे युक्त बुद्धि द्वारा धीरे धीरे उपरत होकर आत्मामें योगी जब लवलीन हो जाते हैं तभी निर्मल, अक्षय, असीम आत्मानन्दका उदय हो जाता है। उस समय आनन्दकी पूर्णताके साथ ही साथ ज्ञानकी भी पूर्णता हो जाती है, जिससे योगीको सर्वत्र अद्वितीय आत्माका साक्षात्कार होने लगता है। वे अपने आत्माको सकल भूतोंमें, सकल भूतोंको अपने आत्मामें परमात्माको सर्वत्र और सबको परमात्मामें देखकर कृतकृत्य हो जाते हैं। ऐसे महात्माके लिये आत्मा कभी अदृश्य नहीं होते हैं और न वे ही कभी आत्मासे दूर या परोक्ष रह सकते हैं। वे सर्वतोव्याप्त ब्रह्मकी उपासना अभेदबुद्धिसे ही करते हैं और किसी अवस्थामें रहनेपर भी तत्त्वतः अद्वैतावस्थामें ही रहते हैं। इसी भावमें आविष्ट होकर श्रीभगवान् शङ्कराचार्यने कहा था—

सत्यपि भेदापगमे नाथ! नचाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

हे नाथ! तुम्हारे साथ भेदभावका अभाव हो जाने पर भी, मैं तो

तुम्हारा ही हूं, तुम मेरे नहीं हो क्योंकि तरङ्ग ही समुद्रका होता है, समुद्र तरङ्गका नहीं होता है। यही अद्वैत भावमें ब्रह्मोपासनाका अलौकिक भाव है। ऐसे महात्मा व्यावहारिक जगतमें भी अपने ही सुखदुःख जैसे सभीका सुखदुःख जानकर सभीके प्रति दया तथा सहानुभूतिका वर्त्ताव करते हैं। जैसा कि स्मृति शास्त्रमें लिखा है—

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः॥

अर्थात् जिस प्रकार अपना प्राण अपनेको प्रिय है, उसी प्रकार सभी जीवोंको अपने अपने प्राण प्रिय होते हैं, इसलिये अपने ही साथ मिला कर महात्मागण जीवोंके प्रति दयाका वर्ताव करते हैं, अनन्त सुधामय विश्वप्रेमकी वर्षा करते हैं, यही भाव मुक्तात्मा स्वरूपस्थित योगीका होता है। इस प्रकारसे विश्वप्राणके साथ एकप्राण, विश्वात्माके साथ अभिन्नात्मा महात्मा योगसुधासमुद्रमें अवगाहन स्नान करके स्वयं भी पवित्र होते हैं और समस्त जगत्को भी पवित्र करते हैं॥ २५–३२॥

अब प्रसङ्गोपात्त योगसिद्धिके विषयमें अर्जुनको शङ्का होती है—

अर्जुन उवाच—

योयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन!।
एतस्याऽहं न पश्यामि चंचलत्वात् स्थितिं स्थिराम्॥३३॥
चंचलं हि मनः कृष्ण! प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४॥

अन्वय—हे मधुसूदन! (हे कृष्ण!) त्वया (तुमने)

साम्येन (समत्व भावके द्वारा पाने योग्य) यः अयं योगः प्रोक्तः (यह जो योग कहा), एतस्य (इसकी) स्थिरां स्थितीं (अचल स्थितिको) चञ्चलत्वात् (मनकी स्वाभाविक चंचलताके कारण) अहं न पश्यामि (मैं नहीं देखता हूं)। हे कृष्ण ! (हे कृष्ण !) हि (निश्चित ही) मनः (मन) चञ्चलं (स्वभावसे ही चपल है) प्रमाथि (शरीर इन्द्रियादिमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाला है) बलवत् (प्रबल अर्थात् विचार तथा पुरुषार्थ द्वारा भी इसका जीतना कठिन है) दृढं (विषय-वासनाके द्वारा जकड़ा रहनेसे अति दुर्भेद्य भी है), अहं (मैं) तस्य निग्रहं (मनके निग्रहको) वायोः इव सुदुष्करं मन्ये (वायुका निग्रह करना जिस प्रकार कठिन है ऐसा ही अतिकठिन समझता हूं)।

सरलार्थ—अर्जुनने कहा हे मधुसूदन ! समत्व भावके साथ साधने योग्य जिस योगके विषयमें तुमने कहा, मनकी स्वाभाविक चञ्चलताके कारण उस योगमें अचल स्थितिकी सम्भावना मैं नहीं देखता हूँ। हे कृष्ण ! मन बड़ा ही चञ्चल, शरीर इन्द्रियोंको सताकर विषयोंमें फंसा देनेवाला, इतना बलवान् कि पुरुषार्थके द्वारा भी जीतने योग्य नहीं और नागपाशकी तरह दृढ़ है। जिस प्रकार हवाकी गठरी बांधना कठिन है, ऐसा ही मनोनिग्रहको मैं अतिकठिन समझता हूँ।

चन्द्रिका—इन्द्रियोंके द्वारा मनमें जो विषमता उत्पन्न होती

है उसीसे योगका नाश होता है और समता द्वारा ही योगमें सिद्धिलाभ होता है। किन्तु जन्मजन्मान्तरके विषय संस्कार तथा स्वाभाविक संकल्प विकल्प परायणताके कारण मन स्वभावतः ही चञ्चल है। इस कारण योगी जिस समय मनको शान्त करनेके लिये प्रयत्न करता है, उस समय स्वभाव पर आघात होनेसे मन और भी चञ्चल हो उठता है। स्वभावतः चञ्चल वन्दरको बांधनेके लिये कोशिश करनेपर जैसा वह और भी चञ्चलता प्रकट करता है, ऐसा ही स्वाभाविक चञ्चल मनके लिये भी समझना चाहिये। क्योंकि मनके लिये शान्त हो जाना उसके चञ्चल स्वभावका सत्यानाश है, अतः यह मनका जीवन मरण संग्राम है और इसी कारण ध्यानादिके समय मन बहुत ही चञ्चल होने लगता है। महाभारतमें भी लिखा है—

जलबिन्दुर्यथा लोलः पर्णस्थः सर्वतश्चलः।
एवमेवास्य चित्तं च भवति ध्यानवर्त्मनि॥
समाहितं क्षणं किञ्चिद् ध्यानवर्त्मनि तिष्ठति।
पुनर्वायुपथभ्रान्तं मनो भवति वायुवत्॥

कमलपत्र पर जलबिन्दु जैसा चञ्चल रहता है, ऐसा ही ध्यान करते समय योगाभ्यासीका मन चञ्चल होता है। कभी थोड़ी देरतक ध्यान-योगमें मन शान्त हो जाता है, किन्तु शीघ्र ही पुनः वायुकी तरह चञ्चल हो उठता है। अतः ऐसे स्वभावतः चञ्चल तथा इन्द्रियोंको बलात् विषयोंमें फंसानेवाले मनका निग्रह करके योगमें सिद्धिलाभ करना कैसे सम्भव हो सकता है यही अर्जुनकी शंका है। 'कृष्ण' सम्बोधनका यह तात्पर्य है कि तुम भक्तोंके पापादि दोषोंका आकर्षण करते हो, इसलिये

मेरे भी चित्तचाञ्चल्यको आकर्षण करके मुझे योगयुक्त कर दो। यही इस प्रश्नका रहस्य है ॥ ३३-३४ ॥

अब प्रश्नके अनुरूप उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच--

असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

अन्वय—मनः (मन) दुर्निग्रहं (कठिनतासे रोकने योग्य) चलं (चञ्चल है) असंशयं (यह बात निःसन्देह है), तु (किन्तु) हे कौन्तेय ! (हे अर्जुन !) अभ्यासेन वैराग्येण च (अभ्यास तथा वैराग्यके द्वारा) गृह्यते (मन रोका जाता है)। असंयतात्मना (जिसने मनको वशीभूत नहीं किया है उसके द्वारा) योगः दुष्प्रापः इति मे मतिः (योग पाने योग्य नहीं है यही मेरी सम्मति है), तु (किन्तु) वश्यात्मना उपायतः यतता (संयतचित्त तथा अभ्यास वैराग्यरूपी उपायसे यत्न करनेवालेके द्वारा) अवाप्तुं शक्यः (योगका लाभ हो सकता है)।

सरलार्थ—श्रीभगवान्ने कहा-हे अर्जुन ! जैसा तुमने कहा निःसन्देह ही मन चञ्चल तथा अतिकठिनतासे रोकने योग्य है। किन्तु अभ्यास और वैराग्यके द्वारा मनका निग्रह हो सकता है। जिसका अन्तःकरण संयत नहीं होता, उसको

योग मिलना असम्भव ही है यही मेरी राय है। किन्तु संयत-चित्त पुरुष अभ्यासवैराग्यरूपी उपायोंसे यत्न करता करता योगको पा सकता है।

चन्द्रिका—मन चञ्चल है तथा अतिकठिनतासे ठिकानेपर लाया जा सकता है, अर्जुनकी इन बातोंका समर्थन करके श्रीभगवान् मनोनिरोधके लिये दो उपाय बताते हैं, यथा अभ्यास और वैराग्य। योगदर्शनमें भी लिखा है 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'। अर्थात् अभ्यास और वैराग्यके द्वारा चित्तवृत्तिका निरोध होता है। अभ्यासके विषयमें योगदर्शनमें लिखा है 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' परमात्मामें चित्तके ठहरानेका जो प्रयत्न है उसको अभ्यास कहते हैं। दीर्घ समय तक श्रद्धा भक्तिके साथ निरन्तर प्रयत्न करनेसे तभी अभ्यासकी भूमि दृढ़ होती है। वैराग्यके लक्षणके विषयमें योगदर्शनमें लिखा है 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्यवशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' दृष्ट अर्थात् इहलोकके, आनुश्रविक अर्थात् स्वर्गादि परलोकके विषयोंके प्रति तृष्णाहीन पुरुषके चित्तकी जो वशीकार संज्ञा है उसीको वैराग्य कहते हैं। अधिकारानुसार वैराग्यवान् चित्तकी चार संज्ञाएं होती हैं यथा—यतमान संज्ञा, व्यतिरेक संज्ञा, एकेन्द्रिय संज्ञा और वशीकार संज्ञा। संसारमें सार क्या है, असार क्या है गुरु तथा शास्त्रकी सहायतासे इसके जाननेका प्रयत्न यतमान संज्ञाका लक्षण है। चित्तमें जितने वैषयिक भाव थे, उनमेंसे इतने नष्ट हो गये हैं और इतने बाकी हैं इस तरहसे विवेचन करना व्यतिरेक संज्ञाका लक्षण है। बाहिरी इन्द्रियोंमें विषयवृत्ति हटकर केवल मनमें ही विषय तृष्णाका रह जाना एकेन्द्रिय संज्ञाका लक्षण है और अन्तमें

मनमें भी विषय तृष्णाका न होना वशीकार संज्ञाका लक्षण है। इस प्रकारसे अभ्यास तथा वैराग्यके द्वारा चित्तको संयत करनेकी जिसको परवाह ही नहीं है उसको योग नहीं मिलता, किन्तु जो लगातार वैराग्य तथा अभ्यासके द्वारा इसी काममें लगे रहते हैं वे इस योगको अवश्य ही पा लेते हैं यही श्रीभगवान्‌का उपदेश है ॥ ३५–३६ ॥

पुनरपि अर्जुन शंका करते हैं—

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण ! गच्छति ॥३७॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो ! विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण ! छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यःसंशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

अन्वय—हे कृष्ण ! (हे कृष्ण !) श्रद्धया उपेतः (प्रथमतः श्रद्धाके साथ योगमें प्रवृत्त) अयतिः (किन्तु पश्चात् योगाभ्यासमें यत्नहीन) योगात् चलितमानसः (योगमार्गसे विचलित चित्त पुरुष) योगसंसिद्धिं अप्राप्य (योगमें सिद्धि न पाकर) कां गतिं गच्छति (किस गतिको पाता है)। हे महाबाहो ! (हे कृष्ण !) ब्रह्मणः पथि (ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें) विमूढः (मूढ़भावग्रस्त) अप्रतिष्ठः (निराश्रय) उभयविभ्रष्टः (कर्मपथ योगपथ दोनोंसे च्युत) छिन्नाभ्रं इव (विच्छिन्न मेघकी तरह) न नश्यति कच्चित् (नष्ट तो नहीं हो जाता

है ?) हे कृष्ण ! (हे कृष्ण !) मे एतत् संशयं (मेरे इस सन्देह-को) अशेषतः (निःशेषरूपसे) छेत्तुं अर्हसि (तुम्हें दूर करना चाहिये) हि (क्योंकि) त्वदन्यः (तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई) अस्य संशयस्य छेत्ता (इस सन्देहका दूर करनेवाला) न उपपद्यते (नहीं मिल सकता है) ।

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण ! यदि कोई ऐसा पुरुष हो जो कि पहिले श्रद्धाके साथ योगाभ्यासमें प्रवृत्त हुआ था, किन्तु पश्चात् यत्नकी कमीसे योगसे विचल गया, ऐसे पुरुषको योगमें सिद्धिलाभ न होनेके कारण कौन गति प्राप्त होगी ? हे महाबाहो ब्रह्मप्राप्ति मार्गमें विमूढ़, कहीं आश्रय-हीन, कर्मपथ-योगपथ दोनोंसे भ्रष्ट ऐसा पुरुष मेघमालासे विच्छिन्न मेघखण्डकी तरह बीचहीमें नष्ट तो नहीं हो जायगा ? हे कृष्ण ! मेरे इस सन्देहका निश्चित निराकरण करो, क्योंकि तुम्हारे सिवाय इसका निराकरण करने वाला दूसरा मुझे नहीं दीखता है ।

चन्द्रिका—योगमार्ग बड़ा कठिन है इसलिये सम्भव हो सकता है कि पहिले पहिल साग्रह योगाभ्यासमें रत होने पर भी पश्चात् महा-मायाके प्रभावमें मार्ग छूट जाय और चित्त चञ्चल होकर विषयमलिन हो पड़े, ऐसी दशामें न योग ही बना और न गृहस्थी ही बना, दोनों मार्गसे भ्रष्ट हो गया । इसलिये अर्जुनको औत्सुक्य होता है कि ऐसे योगभ्रष्ट योगीकी क्या गति होती है सो जान लेवे । श्रीभगवान् 'महाबाहु' हैं, भक्तके योगमार्गके उपद्रव नाश करनेके अर्थ वे प्रचण्डबाहु चतुर्भुज

हैं, महर्षियोंके भी गुरु, पूर्णप्रज्ञ हैं, इस कारण ऐसी शंकाओंका शान्तिप्रद समाधान उन्हींके द्वारा सम्भव हो सकता है, ऐसा निश्चय कर अर्जुनने श्रीभगवान्‌से ही सन्देह दूर करानेका आग्रह किया है ॥ ३७–३९ ॥

प्रश्नके अनुरूप उत्तर श्रीभगवान् देते हैं—

श्रीभगवानुवाच –

पार्थ ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात ! गच्छति ॥४०॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन ! ॥४३॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

अन्वय—हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) न एव इह (न इहलोकमें) न अमुत्र (और न परलोकमें) तस्य विनाशः विद्यते (योगभ्रष्ट पुरुषकी अधोगति होती है), हि (क्योंकि) हे तात ! (हे प्रिय अर्जुन !) कल्याणकृत् कश्चित् (शुभकारी

कोई भी) दुर्गतिं न गच्छति (हीन गतिको नहीं प्राप्त करता है)। योगभ्रष्टः (पूर्व वर्णित योगभ्रष्ट योगी) पुण्यकृतान् लोकान् प्राप्य (यज्ञादि पुण्यकारियोंके भोग्य स्वर्गादि लोकोंको पा कर) शाश्वतीः समाः (बहु वर्ष तक) उषित्वा (उन लोकोंमें वाससुख उपभोग करके) शुचीनां श्रीमतां गेहे (पवित्रात्मा धनियोंके घरमें) अभिजायते (जन्म लेता है)। अथवा (अथवा) धीमतां योगिनां एव कुले (ज्ञानवान् योगियोंके वंशमें) भवति (उत्पन्न होता है), ईदृशं यत् जन्म (यह जो योगियोंके कुलमें जन्म है) एतत् हि लोके दुर्लभतरम् (सो श्रीमानोंके घरमें जन्मकी अपेक्षा दुर्लभ जन्म है)। तत्र (योगियोंके कुलमें जन्म लेकर) पौर्वदेहिकं बुद्धिसंयोगं (पूर्वजन्ममें अर्जित उस योगबुद्धिको) लभते (योगभ्रष्ट योगी प्राप्त करता है), ततः च (और इसी कारण) हे कुरुनन्दन! (हे अर्जुन!) भूयः (विशेष पुरुषार्थके साथ) संसिद्धौ यतते (योगमें सिद्धि लाभके लिये प्रयत्न करता है) तेन एव पूर्वाभ्यासेन (पूर्व जन्मके अभ्यासके कारण) सः हि (वही योगभ्रष्ट) अवशः अपि ह्रियते (विवशरूपसे योगमार्गमें आकृष्ट हो जाता है), योगस्य जिज्ञासुः अपि (योगके स्वरूप जाननेकी इच्छा करने पर भी) शब्दब्रह्म अतिवर्त्तते (वेद कोटिको अतिक्रम करके मोक्षप्रद योगपदवीपर प्रतिष्ठित हो जाता है)। प्रयत्नात् तु यतमानः योगी (पुरुषार्थके साथ योगभूमिमें अग्रसर होनेके लिये यत्नशील योगी) संशुद्धकिल्विषः (पापमुक्त होकर) अनेकजन्मसंसिद्धः

(अनेक जन्ममें क्रमोन्नति द्वारा सिद्धि लाभ करता हुआ) ततः (अन्तमें) परां गतिं याति (मोक्षरूपी परम गतिको पा लेता है ।

सरलार्थ—श्रीभगवान्‌ने कहा—हे पार्थ ! न इहलोक न परलोकमें योगभ्रष्ट पुरुषकी अधोगति होती है। क्योंकि कल्याणपथके पथिक कदापि दुर्गतिको नहीं पाते हैं। ऐसे पुरुष अपने कुछ भी अर्जित शुभ प्राक्तनके फलसे पुण्यात्माओंके भोग्य स्वर्गादि लोक पाकर वहां वर्षों नाना भोग भोगनेके बाद पवित्राचार धनियोंके घरमें जन्म ग्रहण करते हैं। अथवा ज्ञानवान् योगियोंके कुलमें उनका जन्म होता है, और संसारमें इस प्रकारका जन्म बड़ा ही दुर्लभ है। इस प्रकारसे अच्छे कुलमें जन्म होनेके बाद उन्हें प्राक्तन योगबुद्धि स्वतः लब्ध होती है जिससे अधिक पुरुषार्थके साथ योगमार्गमें अत्युन्नत होनेके लिये वे प्रयत्न करने लग जाते हैं। पूर्वजन्मके अभ्यासके बलसे बिना कोशिश किये ही-विवशकी तरह वे योगमार्गमें प्रवृत्त हो जाते हैं और प्रवृत्त न होकर भी केवल योगस्वरूपके विषयमें जिज्ञासा होते ही वे वेदमार्गको पार होकर मोक्षमार्गमें प्रविष्ट हो जाते हैं। इस तरह यत्न करते करते मनोमल शरीरमल आदिकी निवृत्तिके साथ साथ जन्म जन्मान्तरके अभ्यास परिपाक द्वारा सिद्धि मिलनेपर तब योगीको मोक्षरूपी परमगति प्राप्त हो जाती है।

चन्द्रिका—इन श्लोकोंमें अर्जुनकी शंकाके समाधानरूपमें

श्रीभगवान्‌ने योगभ्रष्टपुरुषकी अन्तिम गति बताई है। अच्छे काम थोड़े भी हों 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' इन भगवद्‌वचनोंके अनुसार अच्छेके अच्छे ही फल होते हैं। इसलिये योगभ्रष्ट पुरुषने प्रथमतः जो कुछ अच्छे साधन संस्कार प्राप्त किये थे उन्हींके फलरूपसे उन्हें स्वर्गादि आनन्दमय लोक मिलते हैं और वहां बहु वर्ष तक सुख भोग करके पश्चात् सदाचारपरायण धनियोंके घरमे अथवा ज्ञानवान् योगियोंके कुलमे उनको मनुष्यदेह मिलता है। धनी होनेसे 'योगक्षेम' का अभाव नहीं रहता है और सदाचारी होनेस धनका मद भी नहीं होता है। इसलिये ऐसे घरमें जन्म होना योगके लिये सुविधाजनक अवश्य है। किन्तु योगियोंके कुलमे जन्म होना और भी शुभ है क्योंकि वहां माता पिताके द्वारा भी योगका स्वाभाविक संस्कार जन्मतः प्राप्त होता है और कुलमें योगकी परम्परा रहनेसे सभी विषयोंमें सुविधा मिलती है, ऐसे जन्मप्राप्त पुरुष जन्मसे ही योगी बनते हैं और योगाभ्यासके लिये विशेष प्रयत्न करते हैं। शास्त्रमें लिखा है—

पूर्वजन्मार्जिता विद्या पूर्वजन्मार्जितं धनम्।
पूर्वजन्मार्जितं पुण्यमग्रे धावति धावति॥

पूर्वजन्मके कमाये हुए धन, विद्या तथा पुण्य आगे जन्ममें प्राप्त होते हैं। तदनुसार इच्छा न करने पर भी ऐसे पुरुषका चित्त योगमें खिंच जाता है, और योगकी बात पूछते पूछते भी वे कर्मकाण्डको छोड़ कर योगपरिपाकरूपी मोक्ष पदवी पर पहुंच जाते हैं। ऐसे ही अनेक जन्म तक थोड़े थोड़े योगसंस्कार एकत्रित होकर अन्तमें योगाभ्यासीको निर्मल, सदानन्दमय अमृतपदको दिला देते हैं, यही उत्तम कर्मकी उत्तम गति

है। श्लोकमें 'तात' शब्दके द्वारा अर्जुनके प्रति विशेष प्रेम तथा कृपा श्रीभगवान्‌ने प्रकट की है। 'तात' पिताको कहते हैं, पुत्र भी पिताका आत्मज होनेके कारण 'तात' कहलाता है। शिष्य पुत्रस्थानीय है और पुत्रकी तरह स्नेहपात्र है, इस कारण शिष्य अर्जुनके प्रति श्रीभगवान्‌ने इस प्रकार स्नेह तथा कृपासूचक शब्दका प्रयोग किया और यही भाव प्रकट किया कि तुम भी योगी बन जाओ, तुम्हें डर नहीं है, क्योंकि यदि तुम मनकी चञ्चलताके कारण कभी योगभ्रष्ट भी हो गये तथापि इहलोक, परलोकमें तुम्हें उत्तम सुख और अन्तमें उत्तमा गति प्राप्त होगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है ॥४०-४५॥

उपासनायोगकी उत्तमता बता कर उपसंहारमें उसी योगकी ओर अर्जुनका ध्यान आकृष्ट करते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ! ॥४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४६॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ध्यानयोगो नाम
षष्ठोऽध्यायः ।

अन्वय—योगी (क्रियायोगपरायण पुरुष) तपस्विभ्यः अधिकः (तपश्चरनेवालोंसे श्रेष्ठ है) ज्ञानिभ्यः अपि अधिकः (अनुभवहीन केवल शास्त्रज्ञ पुरुषोंसे भी श्रेष्ठ है) कर्मिभ्यः

च अधिकः मतः (और इष्टापूर्त्तादि स्वर्गप्रद सकाम कर्मकारियोंसे भी अधिक है यही मेरा अभिमत है) तस्मात् (इसलिये) हे अर्जुन! (हे अर्जुन!) योगी भव (तुम योगी हो जाओ)। सर्वेषां योगिनां अपि (सब योगियोंमें भी) यः श्रद्धावान् (जो श्रद्धालु योगी) मद्गतेन अन्तरात्मना (मुझमें ही सारे अन्तःकरणको डाल कर) मां भजते (मेरा भजन करता है) सः मे युक्ततमः मतः (उसे मैं सर्वोत्तम योगी मानता हूं)।

सरलार्थ—क्रियायोगपरायण पुरुष तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, ज्ञानियोंसे श्रेष्ठ है और कर्मियोंसे भी श्रेष्ठ है, इसलिये, हे अर्जुन! तुम योगी हो जाओ। योगियोंमें भी जो श्रद्धालु योगी मुझमें सम्पूर्ण मनको लगा कर मेरी उपासना करता है ऐसे भक्तिमान् योगीको मैं सर्वश्रेष्ठ योगी समझता हूं।

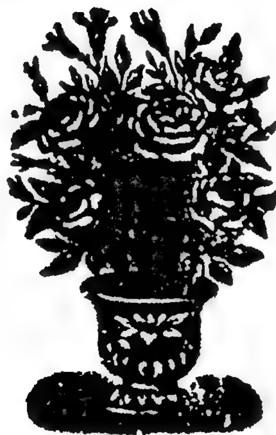
चन्द्रिका—इन दोनो श्लोकोंमें तपस्वी आदियोंसे यमनियमादि अष्टाङ्गयोगपरायण योगकी श्रेष्ठता और ऐसे योगियोंमें भी भक्तिमान् उपासनारत योगीकी सर्वश्रेष्ठता बताई गई है। योगी तपस्वीसे श्रेष्ठ हैं क्योंकि सकाम तपस्या द्वारा केवल स्वर्गादि प्राप्ति और निष्काम तपस्या द्वारा चित्तशुद्धि मात्र होती है। मोक्ष-प्रद योगसाधना इस अधिकारमें बहुत ऊंची है। योगी ज्ञानी अर्थात् शास्त्रज्ञाता विद्वान्से श्रेष्ठ हैं, क्योंकि विना अनुभवके बीगे शास्त्रज्ञान द्वारा आत्माके राज्यमें विशेष प्रतिष्ठा होती नहीं, उधर योगी योगबलसे आत्मराज्यमें पूर्णप्रतिष्ठा लाभ करते हैं। योगी इष्टापूर्त्तादि सकाम कर्मियोंसे भी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि इन कर्मोंका भी

अन्तिम परिणाम स्वर्गसुख ही है और पश्चात् स्वर्गसे पतन है। अतः आत्माके राज्यमें उन्नतिके विचारसे तपस्वी, शब्दज्ञानी तथा कर्मी सभीसे योगी श्रेष्ठ हुए। इन योगियोंमें भी उपासना तथा भक्तिसे युक्त योगी सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि भक्तिके बिना केवल आसन प्राणायामादि कहीं कहीं व्यायामादि रूपमें ही परिणत हो जाते हैं और कहीं कहीं छोटी मोटी सिद्धिके देनेवाले हो जाते हैं। किन्तु ईश्वर परायणताके साथ अष्टाङ्ग योगका अनुष्ठान होने पर सिद्धि तथा ब्रह्मप्रतिष्ठा निश्चय ही हो जाती है। इसी कारण भक्तिमान् ईश्वररत योगी ही सर्वश्रेष्ठ हैं। अतः अर्जुनको तथा संसारके समस्त लोगोंको कर्मयोगके साथ उपासनायोगका समन्वय करके अपना अपना वर्णाश्रमोचित कर्त्तव्य पालन करना चाहिये यही श्रीभगवान्का उपदेश है। कर्मयोगके साथ ज्ञानयोगका समन्वय रहनेसे कर्म तथा विकर्मका भेद समझकर कर्म करनेमें कैसी सुविधा होती है इसका रहस्य चतुर्थाध्यायमें श्रीभगवान् कुछ बता चुके हैं। अब इस अध्यायमें उपासनायोगकी महिमा बता कर कर्मयोगके साथ इस योगके भी समन्वयकी आवश्यकता उन्होंने बता दी है। जिससे कर्मयोगीमें 'अहंकार विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते' यह दोष न आ जाय और वे कर्ममें फंस कर अहंकारके कारण अपनेको कर्त्ता ही न समझ बैठें। कर्मके साथ उपासनाका मधुर विनीत भाव रहनेसे कर्मयोगी अपनेको कर्त्ता न समझ कर यही समझेंगे कि उनके भीतर जो शक्ति काम करती है वह भगवान्की ही है और वे केवल यन्त्री भगवान्के यन्त्ररूप हैं। अतः कर्मका फलाफल भगवान्में ही समर्पण करके निर्लिप्तरूपसे वे अपना वर्णाश्रमोचित धर्म पालन कर सकेंगे। यहीं कर्मयोगके साथ

उपासनायोग तथा ज्ञानयोगके मधुर समन्वयका अलौकिक रहस्य है और यही श्रीमद्‌भगवद्‌गीताका प्रतिपाद्य विषय है ॥ ४७ ॥

इस प्रकार भगवद्‌गीतारूपी उपनिषद्‌में ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत योगशास्त्रमें श्रीकृष्णार्जुन संवादका 'ध्यानयोग' नामका छठा अध्याय समाप्त हुआ ।

षष्ठ अध्याय समाप्त ।



सनातनधर्मकी पुस्तकें ।

—o❋o—

धर्मकल्पद्रुम प्रथम भाग	२)
" द्वितीय भाग	१॥)
" तृतीय भाग	२)
" चतुर्थ "	२)
" पंचम "	२)
" षष्ठ "	१॥)
" सप्तम "	२)
प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारत प्रथम भाग	२)
" द्वितीय भाग	२)
साधनचन्द्रिका	१।।।)
शास्त्रचन्द्रिका	१॥)
धर्मचन्द्रिका	१)
नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत	१)
आचारचन्द्रिका	॥)
नीतिचन्द्रिका	॥)
चरित्रचन्द्रिका प्रथम भाग	१)
" द्वितीय भाग	१)
धर्मप्रश्नोत्तरी	।)
सती-चरित्र-चन्द्रिका	≡)
नित्यधर्म चन्द्रिका	।)
धर्मसोपान	।)
सदाचारसोपान	-)
कन्याशिक्षासोपान	-)
ब्रह्मचर्यसोपान	।)
राजशिक्षासोपान	≡)
साधनसोपान	।)
शास्त्रसोपान	।)
धर्मप्रचारसोपान	≡)
उपदेशपारिजात	॥)
कल्किपुराण	१॥)
योगदर्शन	२)
श्रीभारतधर्ममहामण्डलरहस्य	१।)
निगमागमचन्द्रिका १ म भाग	१)
" २ य भाग	१)
मन्त्रयोगसंहिता	१)
हठयोगसंहिता	।।।)
तत्त्वबोध	=)
स्तोत्र कुसुमाञ्जलि	।)
दैवीमीमांसादर्शन १ भाग	१॥)
श्रीमद्भगवद्गीता १ खण्ड	१)
विष्णुगीता	१)
सूर्य्यगीता	॥)
शक्तिगीता	१)
धीशगीता	।।।)
शम्भुगीता	१)

संन्यासगीता	१)
गुरुगीता	।)
चतुर्दशलोकरहस्य	।)
परलोकरहस्य	।)
आर्य्यगौरव	॥)
सनातनधर्मदीपिका	॥।)
धर्मकर्मदीपिका	॥)
वर्णाश्रमसंघ और स्वराज्य	=)
स्त्रीशिक्षा भजनावली	-)॥
स्त्रीधर्म चेतावनी	-)
व्रतोत्सव-चन्द्रिका	३)
आचार प्रबन्ध	१)
पारिवारिक प्रबन्ध	१)
भूदेव चरितम्	१॥)
गोरक्षा	।=)
श्रीगोमाताकी जय	-)
प्रयागमाहात्म्य	॥=)
श्रीरामगीता	२॥)
वैष्णवरहस्य	)॥
श्रीशास्त्रीजीके दो व्याख्यान	॥=)
धनुर्वेदसंहिता	।)
कल्पलतिका बालचिकित्सा	।)
मानसमञ्जरी	।)
इङ्गलिशग्रामर	।)
बारहमासी	-)
वसन्तश्रृंगार	≡)
कन्याविनयचन्द्रिका	-)
इश्क दोहावली	)।
मेगास्थनीजका भारतवर्षीय वर्णन	॥=)
वारिनहेस्टिङ्गज	१)
आदर्श जीवन संग्रह	१॥)
कार्तिकप्रसाद खत्रीका जीवन-चरित्र	=)
सूर्यपुराण आदि २६६ रत्न	॥≡)
कर्मविपाकसंहिता (भाषा टीका सहित)	१॥)
भर्तृहरिशतक प्रथम्	॥।)
रामयशशिरोमणिनाटक	१॥।=)
सुन्दरविलास	॥=)
बूटीप्रचार	॥।=)
आल्हारामायण आठोकाण्ड	॥=)
विश्रामसागर	३।=)
गीता पंचरत्न बड़ा	१॥।=)
महाभारत दोहा चौपाईमें	२॥)
गृहभूषण (भाषा टीका सहित)	॥-)
महाभारत हिन्दीमें	७॥)
रसराज महोदधि	४)
सुखसागर	२॥)
आल्हाखण्ड बड़ा	३)
प्रेमसागर	१॥।)
बृजविलास	२॥)
योगवासिष्ठ बड़ा	८)

शिवपुराण भाषा ३-)
माधवनिदान भाषा टीका २॥)
रामायण मूल बड़े अक्षरोंमें ६)
रामायण सूर्यदीनकृत (भाषा टीका सहित) ≡)
बड़ा भरथरीचरित्र ।=)
आनन्दसागर ।-)
ज्योतिषसार भा० टी० सहित १॥=)
कौतुकरत्नभण्डार १=)
विवेकचूड़ामणि (संस्कृत टीकासहित १।)
ग्रहशान्ति ॥)
विवाहपद्धति ≡)
तर्कसंग्रह संस्कृत टीका सहित ॥)
शुक्ल यजुर्वेदीय रुद्राष्टाध्यायी ।-)
फलित संग्रह ॥।)
प्रेत-मंजरी मूल ।=)
लघुसंग्रह ≡)
वासिष्ठी हवन पद्धति ।)
साम्वत्सरिक एकोद्दिष्ट श्राद्ध प्रयोग =)॥
पञ्चांग पद्धति ।-)
गोपाल सहस्रनाम =)॥
दुर्गाशप्तसती खुला पत्रा =)
अनन्तव्रत कथा मूल =)
अनन्तव्रत कथा भा० टी० सहित ≡)
सत्यनारायण व्रत कथा मूल =)॥
सत्यनारायण व्रत कथा भा० टीका सहित ≡)॥
गरुड़ पुराण भा० टी० सहित ॥)
सत्यहरिश्चन्द्र नाटक ≡)
गायत्री पुरश्चरण =)॥
दशकर्म पद्धति ।≡)
दत्तात्रेयतन्त्रम् भा० टी० सहित ॥=)
मेघदूत भा० टी० सहित ॥-)
उड्डीशतंत्र भा० टी० सहित ॥)
नारायण बलि भा० टी० ॥=)
गणेशचतुर्थी कथा भाषा टीका सहित ।-)
गीतगोविंद भा० टी० सहित ॥।)
जातकालंकार भा० टीका सहित ।≡)
हितोपदेश ॥≡)
शीघ्रबोध भा० टी० सहित ।≡)

पता—निगमागम बुकडिपो,
भारतधर्म सिण्डिकेट लिमिटेड,
स्टेशन रोड, बनारस सिटी।